ROYAL ARTS—

YANTRAS & CITRAS

D N SHUKLA

समराङ्गण सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय

राज-निवेश

एवं

राजसी कलायें

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल

एम० ए० पी-एच० डी०, डी० लिट०

साहित्याचार्य, साहित्य-रत्न, काव्य-तीर्थ, शिल्प-कला-प्राकल्प

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, सस्कृत-विभाग

पजाब-विश्वविद्यालय, चण्डीगढ

प्रथम भाग

अध्ययन एव हिन्दी अनुवाद

समर्पण

महाकवि कालिदास, बाण-भट्ट तथा श्रीहर्ष को स्मृति मे

लक्षण एवं लक्ष्य दोनों का जब तक एक समन्वयात्मक प्रतिबिम्बन न प्राप्त हो तो शास्त्रीय सिद्धान्तों (लक्षणों) का क्या मूल्यांकन? अतएव जहाँ अभी तक भारतीय स्थापत्य (विशेषकर चित्र-कला) पर केवल पुरातत्वीय विवेचन हो सका, वहाँ साहित्य-निबन्धनीय इस विवेचन (दे० पृ० ११२-१२४) ने तो चित्र-कला को कितना भारतीय जीवन का अभिन्न अंग सिद्ध कर दिया है—यह सब इन तीन प्रमुख महाकवियों के काव्यों की देन है।

—शुक्ल (द्विजेन्द्र नाथ)

निवेदन

हमारा समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र—प्रथम भाग—भवन निवेश—अध्ययन, हिन्दी अनुवाद, मूल पाठ तथा वास्तु पदावली निकल ही चुका है। उसके परिशीलन से विद्वान पाठक तथा प्राचीन भारतीय स्थापत्य में रुचि रखने वाले आधुनिक इन्जीनियर तथा आर्कीटेक्टस एवं कला-कोविद इन सभी ने अपनी प्राचीन देन का अवश्य मूल्यांकन किया होगा। भारत का यह स्थापत्य Hindu Science of Architecture कितना वैज्ञानिक और प्रवृद्ध था—इसमें अब किसी को असमंजस में पड़ने की आवश्यकता नहीं रही है। हमारे देश में बहुत से भारत भारती के विशेषज्ञ अभी तक इन वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों को न वैज्ञानिक मानते रहे, न उनको समझने में सफलता मिल सकी, अतः वे यही आकूत करते आये हैं कि ये ग्रंथ पौराणिक हैं, कपोल-कल्पित हैं अथवा अतिरंजित हैं।

भवन-निवेश—यह ग्रंथ एक प्रकार से भारतवर्ष के स्थापत्य में पुनरुत्थान कर सकता है। यह पुनरुत्थान भारत के आधुनिक स्थापत्य में स्वर्ण-युग Renaissance का प्रादुर्भाव प्रकट कर सकता है, यदि लोग इसको ठीक तरह से पढ़ें और इन्जीनियरिंग (Civil Engineering) और आर्कीटेक्चर के कोर्स में इसे सम्मिलित करें। अनुसन्धान-कर्ताओं का काम अन्वेषण करना है उसका रूप प्रकट करना है। जहां तक उसका उपयोग और उसकी उपादेयता का प्रश्न है वह तो शासकों और संचालकों के हाथ में है। हमारे देश की जल-वायु के अनुकूल संस्कृति तथा सभ्यता के अनुकूल, रहन-सहन-आचार-विचार-निवास-परिधान के अनुरूप जैसा भवन निवेश हमारे पूर्वजों ने परिकल्पित किया था वही हमारे देश के लिए अनुकूल है तथा कल्याणकारी है।

वैपरीत्याचरण से एवं पश्चिम के अंधानुकरण से इस दिशा में महान् अनर्थ तथा क्षति की पूर्ण सम्भावना है। इस उष्ण-प्रधान देश में सीमेंट (पत्थर) के खम्भ तथा छतें और दीवालें महान् हानिकारक हैं। इसी लिए हमारे पूर्वजों ने जहां बड़े-बड़े उत्तुंग शिखरावलियों से विभूषित, नाना विमानों से अलंकृत मंदिर प्रासाद, धाम, राज-वेश्म बनवाये वहां अपने निवास के

लिए शाल भवन ही अनुकूल समझते रहे जिन मे छप्परो (छाद्यो) तथा मार्तिक भित्तियो तथा काष्ठ-विनिर्मित, खचित, सज्जित स्तम्भो का ही प्रयोग किया जाता रहा है। इसका आधार निम्नलिखित पौराणिक तथा आगमिक आम्नाय था—"शिलाकुड्य शिलास्तम्भ नरावासे न योजयेत्"।

राज निवेश एव राजसी कलायें—अस्तु, इस दिग्दर्शन के उपरान्त अब हम अपने इस प्रकाशन—राज-निवेश एव राजसी कलायें—यन्त्र एव चित्र के साथ राज-निवेश (Palace Architecture) की ओर आते हैं। इस ग्रन्थ मे चित्र-कला विशेष व्याख्यात है। राज-निवेश पर इस निवदना मे विशेष निवदन की आवश्यकता नही, वह अध्ययन मे पढ़ें। जहा तक यन्त्र एव चित्र का साहचर्य हैं, वह सब राज-सरक्षण ही आधार था।

आज तक भारतीय यान्त्रिक विज्ञान पर कही भी किसी ने भी खोज नही की। बात यह है कि यद्यपि यन्त्रो के, विमानो (जैसे पुष्पक-विमान आदि) के नाना सन्दर्भ प्राचीन साहित्य मे प्राप्त होते हैं परन्तु इस विज्ञान पर समरागण सूत्रधार को छोडकर कही पर किसी भी ग्रन्थ मे आज तक यह विज्ञान नही प्राप्त हुआ है। मैं अपने अग्रेजी ग्रन्थ—Vastusastra Volume I—Hindu Science of Architecture मे इस यन्त्र-विज्ञान पर पहिले ही व्याख्या कर चुका हूँ। अब हिन्दी मे यह प्रथम प्रयास है और पाठक तथा विद्वान् इस ग्रन्थ के परिशीलन से अपने भूत का मूल्याकन अवश्य कर सकेंगे।

अब आइये चित्रकला की ओर। यद्यपि भारत के चित्र-कला निदर्शन जसे अजन्ता, बाघ सिगिरिया आदि प्रख्यात चित्र-पीठो पर जो उपलब्ध हो रहे हैं, उन पर बहुत से विद्वानो ने कलम चलाई है और ऐतिहासिक समीक्षा भी की है परन्तु शास्त्र (Canons) और कला इन दोनो का समन्वयात्मक अथवा आधाराधेय-भावात्मक (Synthetic) समीक्षण किसी ने नही किया है। सर्वप्रथम श्रेय डा० स्टला क्रमरिश को है, जिन्होने चित्र शास्त्र के प्रथित-कीर्ति पुराण ग्रन्थ विष्णु-धर्मोत्तर का अग्रजी मे अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी। उन के बाद यह मेरा परम सौभाग्य था कि मैंने अपने डी० लिट्० के अनुसन्धान के लिए Foundations and Canons of Hindu Iconography and Painting जो विषय चुना था, उसी ने मुझे यह अवसर दिया कि समस्त चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो जसे भरत का नाट्य शास्त्र, नारद शिल्प सारस्वत-चित्र-कर्म विष्णु-धर्मोत्तर समरागण-सूत्रधार, अपराजित पृच्छा, मानसोल्लास

आदि सभी प्राप्त चित्र ग्रन्थो का परिशीलन, आलोडन, अनुसन्धान गवेषण और मनन के उपरान्त हमने एक अति वैज्ञानिक तथा पाद्धतिक चित्र लक्षण बनाया और उसको पुन व्याख्यात्मक तथा ऐतिहासिक एव साहित्यिक दोनो परिपाटियो से एक प्रबन्ध प्रस्तुत किया।

इस प्रबन्ध (Hindu Canons of Painting) को देखकर भारत के प्रख्यात तथा धुरन्धर विद्वानो ने जैसे महामहोपाध्याय मिराशी डा० जितेन्द्र नाथ बैनर्जी, प्रो० सी० टी० चैटर्जी आदि ने बडी ही प्रशसा की और यहा तक लिख मारा—This is a land mark in Contemporary Indology both in India and Europe

मेरे पी-एच०डी० अनुसन्धान (A Study of Bhoja s Samarangna Sutradhara—a treatise on the science of Art and Architecture) पर प्रख्यात कला-समीक्षक एव प्रथितकीर्ति डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा स्व० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अभूतपूर्व प्रशसा ही नही की वरन् लखनऊ विश्वविद्यालय को बधाई भी दी। मेरे लिए उनका यह वाक्य(The award of Ph D Degree is the least credit for such a scientific and conscientious labour) बडा प्रेरणा प्रदायक सिद्ध हुआ, जिस से मैंने इस विषय को आजीवन निष्ठा के रूप मे अगीकृत कर लिया है। इन दोनो प्रबन्धो की वरण्य प्रशसा एव कीर्ति के कारण सस्कृत के महान सरक्षक एव शुभचिन्तक डा० देशमुख (भूतपूर्व यू०जी०सी० चेयरमन) ने इनके विस्तृत अध्ययन-पुरस्सर दो बृहदाकार ग्रन्थो के रूप मे परिणत करने के लिए दस हजार रुपये का अनुदान दिया। उसी के कारण मेरे ये दो अग्रेजी ग्रन्थ भी प्रकाशित हो सके—

1—Vastu Sastra Volume I—Hindu Science of Architecture with esp reference to Bhoja s Samarangna Sutradhara

2—Vastusatra Volume II—Hindu Canons of Iconography and Painting

अपने अग्रेजी ग्रन्थो मे इनका पूर्ण विस्तार एव कला और शास्त्र दोनो दृष्टियो से इनका प्रतिपादन किया। हिन्दी के पारिभाषिक साहित्य का श्रीगणेश करने का जो मन बीडा उठाया था, अपनी कृतियो से भारतीय वास्तुशास्त्र-सामान्य-शीर्षक के छै ग्रन्थो को तो प्रकाशित कर ही चुका हूँ। अब मै यन्त्र-विज्ञान तथा चित्र विज्ञान को लेकर इस ग्रन्थ की रचना और प्रकाशन कर रहा हू। जहा तक इन दोनो विषयो की महिमा, गरिमा और

पद्दिमा का सम्बन्ध है वह अध्ययन मे देखिए। अब अन्त मे हमे यह भी सूचित करना है कि भारत-सरकार शिक्षा-सचिवालय मे जो अनुदान इन ग्रन्थो के प्रकाशन के लिए १६५६ म मिला था, उसके सम्बन्ध में हम पहले ही सूचना दे चुके हैं और अध्ययन मे भी इसका कुछ सकेत है, तथापि मैं अपना परम-कर्तव्य समझता हू कि अब लगभग १० वर्ष पुराना यह अनुदान कैसे उपयोग किया जा रहा है। पहला कारण तो यह था कि अनुदान की निधि स्वल्प थी, पत्र व्यवहार से भी कोई लाभ नही हुआ तो हमारे सामने समस्या उठ खडी हुई कि इसको तिलाञ्जलि दे दू कि पुरानी प्रथा (लखनऊ वाली जिसके द्वार उत्तर-प्रदेश सरकार से प्राप्त अनुदान मे जो चार प्रकाशन किये थे) से उसी तरह से करू कि न करू। यद्यपि न इस मे अर्थ-लाभ, न कीर्ति, न इनाम, क्योकि जब तक कोई वर्यक्तिक सिफारिश न हो तब तक इन अभूतपूर्व अनुसन्धानो को साहित्य-एकेडेमी, ललित कला ऐकेडमी क्या पूछेगी। उनके अपने-अपने सलाहकार होते हैं, व जैसी सम्मति देते हैं, वैसे ही व्यक्ति पुरस्कृत होते हैं। हमारे देश मे कोई National Screening Committee तो है नही जो इन निर्णयो की स्क्रीनिंग कर तथा अपुरस्कृत व्यक्तियो को सामने लाये। झटिति मुझे यह वाक्य स्मरण आया —

'अगीकृत सुकृतिन परिपालयन्ति'

तो फिर इन वैयक्तिक लाभो को चन्द्र-हस्त देकर अपनी अगीकृत निष्ठा को निभाने का बीडा उठाया। १६६७ फरवरी की बात सुनें। मैं अपने बहुत पुराने सतीर्थ (लखनऊ विश्वविद्यालय मे जमन कक्षा के) डा० परमेश्वरीदीन शुक्ल से मिला, तो मित्र न पाकर कठोर शासक के रूप म पाया। यमवत् क्रुद्ध होकर कहने लगे–"शुक्ल जी महाराज, आपकी सारी ग्राट खत्म कर दूगा। लगभग १० साल होने आये और अब तक आप ने उसे पूरा यूटीलाइज नही किया।" 'धन्य हो यमराज! आपका चैलेंज स्वीकार है। जाता हूँ दिन रात जुटकर काम करुगा—दर्से जैसी भगवदिच्छा'। अगर डाक्टर शुक्ल का यह रवया न होता तो यह काम न हो पाता। आशा है इस रवैये से राष्ट्र के कार्यों मे एक नवीन स्फूर्ति हो सकेगी। डा० शुक्ल वास्तव मे एक सच्चे सलाहकार हैं।

इस स्तम्भ मे मैं अपने वर्तमान उप-कुलपति श्रीमान् लाला सूरजभान को विस्मृत नही कर सकता। इन के आगमन से मुझे स्वस्थता (स्वस्मिन् तिष्ठति

स स्वस्थ) मिली अत अपने अनुसधान आदि काय म जो अनुद्विग्न होकर प्रवत्त हो सका, यही स्वस्थता है। मेरी सबसे बडी विजय लाला जी के आगमन से सत्य का प्रकाश हुआ। ऐसे स्थिर प्रज्ञ तथा धीर, गम्भीर एव अप्रभावित व्यक्ति ही इतने बडे विश्वविद्यालय का सचालन कर सकते है। कामना है कि यदि तीन टम स तक उप कुलपति पद को शाभित करत रहें तो सस्कृत का यह दूसरा अनुसधान दश ग्रथ-शिल्प-शास्त्र अनुसधान आयोजन जिसे इस पजाब विश्वविद्यालय न स्वीकृत कर ही लिया य० जी० सी० को First Priority Proposals For Fourth Five Yea Plan म भेजा है और यू० जी० सी० ने भी समझदारी से इसको यदि मान लिया, अनुदान स्वीकृत किया तो देश देशान्तर द्वीप द्वीपान्तर म इस अनुस धान से एक नया युग एव नयी अभिरुचि का प्रादुर्भाव होगा। दखें क्या होना है। यह विधि विधान है। मानव न रोक सकेगा न बना सकगा।

अत मे यह भी सूचित करना परमावश्यक है कि बड सौभाग्य की बात है कि पजाबियो मे एक सस्कृतज्ञ सिक्ख श्री त्रिलोचन सिंह स साक्षात्कार हो गया जो यूनिवर्सिटी कैम्पस के समीप प्रस चला रह हैं। इस सरदार न कमाल कर दिया और बडे उत्साह और लगन स काय किया है। सरदार त्रिलोचनसिंह अपनी वचन बद्धता के लिए पूण प्रयास कर रह है।

जहा तक कुछ अशुद्धियो का प्रश्न है वह स्वाभाविक ही है। जब ग्रथकार प्रूफ को पढता है तो अशुद्ध का भी शुद्ध पड जाता है। साथ-ही साथ हमार दश के जो छापेखान हैं उनमे बडे ही विरले कुशल प्रूफ-रीडर मिलत हैं। अत आशा कि पाठक कुछ यत्र-तत्र-सवत्र जहा पर छापे की अशद्धिया है, उनका शपन आप ठीक कर लेगे। जहा तक पारिभाषिक शब्दो का प्रश्न है उसकी तालिका—शुद्ध तालिका (दे० शब्दानुक्रमणी) से प्रत्यक्ष हैं।

अस्तु अन्त मे यह ही कहना है—

गच्छत स्खलन क्वापि भवत्यव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधव ॥

आषाढी सम्वत् १६२४ द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल

प्रकाशन-विवरण

उत्तर-प्रदेश-राज्य तथा केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से प्राप्त अनुदान एवं निजी व्यय से प्रकाशित एवं प्रकाश्य—

समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय—भारतीय-वास्तु-शास्त्र सामान्य-शीर्षक निम्न दश ग्रन्थ प्रकाशन-प्रायोजन —

उत्तर-प्रदेश-राज्य की सहायता से

१ वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश

२ प्रतिमा विज्ञान

३ प्रतिमा-लक्षण

४ चित्र-लक्षण तथा हिन्दू-प्रासाद—चतुमुखी पृष्ठ-भूमि

केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से

भवन-निवेश—(Civil Architecture)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-पदावली

राज-निवेश एवं राजसी कलायें—यन्त्र एवं चित्र (Royal Arts Yantras and Citras)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय-भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु शिल्प चित्र-पदावली

प्रासाद-निवेश (Temple Art and Architecture)

प्रथम भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-शिल्प-पदावली

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—अध्ययन

उपोद्घात—ललित-कलाओ का जन्म एव विकास—वेद एव उपवेद—स्थापत्य-वेद—समरागण-सूत्रधार एक-मात्र वास्तु ग्रथ जिसमे भवन-कला नगर-कला, प्रासाद-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला यन्त्र-कला सब व्याख्यात हैं,

समरागण-सूत्रधार का अध्ययन—एव उसके विभिन्न भागो के अध्ययन की योजना तथा अन्त मे उसका नवीनीकरण, राज-सरक्षण मे प्रोल्लसित स्थापत्य—चतुर्धा स्थापत्य अर्थात स्थपति योग्यताए एव स्थपति-कोटि-चतुष्टय, अष्टाग स्थापत्य, शिल्पियो की चार कोटिया—स्थपति, सूत्रग्राही वर्धकि तथा तक्षक, चित्र-पद का अर्थ—चित्र, चित्राध चित्राभास, पुन परिमाजन अर्थात भवन-निवेश-सम्बन्धी समरागणीय प्रथम-भाग के बाद द्वितीय भाग का परिमार्जित एव वैज्ञानिक सस्करण पद्धति से अध्यायो की तालिका का नवीनीकरण,

अध्ययन के प्रमुख स्तम्भ—राज-निवेश एव राज-निवेशोचित भवन उपभवन एव उपकरण, यन्त्र-विधान तथा चित्र-विधान,

राज-निवेश—राज-निवेशाग—कक्ष्या-निवश—अलिन्द-निवश, राज-भवन-सत्व, राज-निवेश-उपकरण—सभा, अश्वशाला, गज शाला, शयनासन आदि,

राज-विलास (नाना-यन्त्र)—यन्त्र-घटना यान-मातृका अर्थात् यन्त्र-मातृका का अर्थ (Interpretation), प्राचीन यान्त्रिक विज्ञान, यन्त्र गुण, यन्त्र विधा—आमोद-यन्त्र, सेवा-यन्त्र एव रक्षा-यन्त्र, दोला-यन्त्र, विमान-यन्त्र,

राजसी कलायें—चित्र कला—

चित्र-शास्त्रीय-ग्रन्थ, चित्र-कला का उद्देश्य, उद्भव तथा विषय—

षडग तथा अष्टाग, चित्र विधा—सत्य, वैणिक, नागर मिश्र, विद्ध अविद्ध धूली रस, भाव, वर्तिका, भूमि-बन्धन—कुड्य-भूमि-बन्धन, पट्ट-भूमि बन्धन, पट-भूमि बन्धन, चित्राधार एवं चित्रमान—अण्डक प्रमाण, रूप-मान, मानोत्पत्ति, चित्र-प्रमाण-प्रक्रिया (Iconometry), समलम्बित मान (Vertical measurements)—मस्तक-सूत्र, केशान्त-सूत्र आदि गुल्फान्त-सूत्र, भूमि-सूत्रान्त, लप्य कर्म—मार्तिक लेपन, स्निग्धानुलेपन, आलेख्य-कर्म — वर्ण एवं कूचक, कान्ति एवं विच्छित्ति (छाया, कान्ति, क्षय-वृद्धि सिद्धान्त), शुद्ध वर्ण (मूल-रंग), मिश्र वर्ण (अन्तरित-रंग), रंग-द्रव्य—स्वर्ण-प्रयोग—पत्र विन्यास तथा रस क्रिया पञ्च विध कूचक, त्रिविधा लेखनी—तूलिका, लेखनी, विलेखा, वर्तना—क्षय वृद्धि सिद्धान्त, वर्तना-प्रभेद, त्रिविध—पत्रजा, ऐरिक तथा बिन्दुज, चित्र एवं रस—एकादश चित्र-रस, अष्टादश रस-दृष्टियां, चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य कला नृत्य-कला तथा भावाभिव्यक्ति—ध्वनि, चित्र शैलियां (पत्र एवं कण्टक के आधार पर)—चित्र पत्र—षड्-विध—नागरादि-यामुनान्त, चित्र पत्र कण्टक—अष्ट-विध—कलि-प्रमृति भग चित्रकान्त, चित्र-शैलियां—देव-शैली, यक्ष-शैली, नागर-शैली, चित्रकार एवं उसकी कला, चित्र-गुण, चित्र-दोष,

चित्रकला के पुरातत्वीय एवं साहित्यिक निदर्शनों एवं सन्दर्भों पर एक विहंगावलोकन

पुरातत्वीय उपोद्घात—पुरातत्वीय निदर्शन—पूर्व-ईसवीय तथा उत्तर-ईसवीय, पूर्व-ईसवीय—प्राग्-ऐतिहासिक तथा ऐतिहासिक, प्राग ऐतिहासिक—कामूर-पर्वत श्रेणी, विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी, अन्य पर्वत श्रेणियां—मध्य-प्रदेश, मिर्जापुर—उत्तर-प्रदेश के समीपीय कन्दरायें, ऐतिहासिक—पूर्व ईसवीय—सिर-गुजा क्षत्रीय—जोगी मारा कन्दरा, ईसवीयोत्तर—बौद्ध-काल, हिन्दू काल, मुसलिम-काल, बौद्ध-काल—अजन्ता—नाना गुफाओं में प्राप्त चित्र तथा काल-निर्धारण एवं विषय-वर्गीकरण, संरक्षण, चित्र द्रव्य एवं चित्र-प्रक्रिया—वर्ण-विन्यास एवं तूलिका, चित्र-शास्त्र एवं चित्र-कला, सिंघल-द्वीप-सिगरिया, बाघ हिन्दू काल—जैन ग्रन्थ-चित्रण, जैन-चित्र राजपूत-चित्र-कला, पंजाब (कांगड़ा की राजपूती कला), मुगल चित्र कला।

साहित्यिक उपोद्घात—वैदिक वाङमय, पालि वाङ्मय, रामायण एवं महाभारत पुराण शिल्प शास्त्र काव्य तथा नाटक—कालिदास, बाण-भट्ट दण्डी भवभूति माघ हर्ष-देव, राजशेखर, श्रीहर्ष, धनपाल, सोमेश्वर सूरि।

ग्रन्थ-चित्रण

द्वितीय खण्ड—अनुवाद

प्रथम पटल—प्रारम्भिका

द्वितीय-पटल

राज निवेश एव राज निवशोचित-भवन उपभवन तथा उपकरण

तृतीय-पटल—शयनासन विधान—वधकि-कौशल

चतुथ-पटल—यन्त्र-विधान

यन्त्र-लक्षण यन्त्र शब्द निवचन यन्त्र-बीज, यन्त्र प्रकार यन्त्र गुण, यन्त्र विधा यन्त्र-घटना, यान्त्रिक-विज्ञान की परम्परा-पारम्पय कौशल, गुरूपदेश वास्तु कम, उद्यम तथा धी यन्त्र-विज्ञान गुप्ति ।

पचम-पटल—चित्र-लक्षण

चित्र-प्रशसा, चित्रोद्देश, चित्राग भूमि-बन्धन लप्य-कर्मादिक, अण्डक-प्रमाण आदि एव चित्र-रसादि ।

षष्ठ-पटल—चित्र एव प्रतिमा के सामान्य लक्षण

चित्र एव प्रतिमा द्रव्य, निर्माण-विधि, प्रतिमा-मानादि—अगोपाग-प्रत्यग, प्रतिमा विशेष—ब्रह्मादि, लोकपालादि पिशाचादि यक्षादि—सामान्य लक्षण एव

प्रथम खण्ड

अध्ययन

राज-निवेश एवं राजसी कलाये

यन्त्र एवं चित्र

उपोद्घात —ललित कलाओ का जन्म एव विकास एक मात्र केवल पूर्व-मध्य-कालीन अथवा उत्तर-मध्य-कालीन नही समझना चाहिए। यद्यपि ललित कलाओ मे विशेषकर चित्र-कला, प्रस्तर-कला आदि के स्मारक-निदर्शन इसी काल मे विशेष रूप से पाए जाते है, परन्तु पुरातत्त्वीय अन्वेषणो तथा प्राचीन साहित्य से ये कलायें ईसा से बहुत पूर्व विकसित हो चुकी थी। भारतीय संस्कृति मे भौतिक एव आध्यात्मिक दोनो उत्कर्षों के पक्षो पर हमारे पूर्वजो ने पूर्णरूप से अभिनिवेश प्रदान किया था। वैदिक काल मे नाट्य, सगीत, नृत्य तथा आलेख्य पूर्ण-रूप से प्रचलित थे। इसका सबसे बडा प्रमाण है भरत का नाट्य-शास्त्र है। जनानुरजन एव *जनता मे उपदेशात्मक, मनोरञ्जनात्मक, ज्ञानात्मक गाथाओ के द्वारा प्रचार* करने के लिए ब्रह्मा ने नाट्य वेद की रचना की जो पाचवे वेद के नाम से प्रकीर्तित किया गया।

वात्स्यायन का काम सूत्र भौतिक विकास का एक महान दर्पण है जिसमे नागरिको के लिए चतुष्षष्टि-कला-सेवन एक प्रकार से इनके जीवन और सामाजिक सभ्यता का अभिन्न एव अनिवार्य अग था। स्टेला क्रैमरिश' ने विष्णुधर्मोत्तर के अनुवाद की भूमिका मे जो लिखा है—'Every citizen had a bowl and brush'—वह वास्तव मे बडा ही सार्थक एव सत्य है। इन चौसठ कलाओ में नृत्य वाद्य, गीत आलेख्य के साथ साथ नाना अन्य शिल्प-कलाओ का भी सॅकीर्तन है जिसमे प्रतिमाला, यन्त्र-मात्रिका आदि भी परिगणित हैं। इससे इन कलाओ को यदि हम भिन्न भिन्न वर्गो मे वर्गीकृत करें, तो न केवल तथाकथित ललित-कलाओ, जैसे प्रमुख छै कलाए—काव्य, नाट्य नृत्य, सगीत, चित्र (आलेख्य), शिल्प एव वास्तु ही उस समय ललित कलाओ के रूप मे नही सेव्य थी, वरन् व्यावसायिक एव औपजीविक कलाओ (Commercial and Professional Arts) को भी पूर्ण सरक्षण तथा प्रोत्साहन प्राप्त था। पुष्पास्तरण, पुष्प-विकल्पन, नेपथ्य-विकल्प, दारु-कर्म, तक्षक-कर्म धातु-वाद प्रतिमाला, यान-मात्रिका आदि सभी इन्ही दो कोटियो मे आती हैं।

राजाओ के दरबार को ही सब प्रमुख श्रेय है, जिसने इन सभी कलाओ की उन्नति मे महान योगदान दिया।

हम यह भी नही विस्मृत कर सकते कि हमारा देश केवल धर्म और दर्शन की ओर ही सदा जागरूक रहा। वैज्ञानिक एव पारिभाषिक शास्त्रो को भी

इस देश में पूरे रूप से प्रोत्साहन और संरक्षण प्रदान किया गया। कोई भी संस्कृति और सभ्यता आध्यात्मिक और भौतिक दोनों उन्नतियों के बिना जीवित नहीं रह सकती। इसी लिए धर्म की परिभाषा में बड़े सूझ-बूझ के महर्षि कपिल ने जो निम्न प्रवचन दिया वह कितना सार्थक है —

"यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

दुर्भाग्य का विलास है कि आधुनिक संस्कृत-समाज वैदिक, पौराणिक, धर्म शास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रों के अतिरिक्त अपने अत्यन्त प्रौन्नत एवं प्रवृद्ध वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रों से अपरिचित है। वेदों का तो अब भी प्रचार है, किन्तु उपवेद भी थे कि नहीं—इसका बड़ा ही न्यून ज्ञान एवं प्रचार है। उपवेदों में आयुर्वेद और अथर्ववेद के अतिरिक्त अन्य शेष उपवेदों का शायद ही किसी को ज्ञान हो। हमारे ऋषि-महर्षि और पूर्वज बड़े ही परिवर्तन-शील तथा काल दर्शक थे। परन्तु हम इतने महान् परिवर्तन शील समय में यदि अब भी रूढ़ि-वादी एवं काल-प्रतिक्रिया-शून्य वादी रहे तो हम अपनी संस्कृति के प्रति कितना धोखा दे रहे हैं कि हम प्रत्येक दिशा में योरूप का अन्धानुकरण कर रहे हैं और अपनी सारी थाती को विस्मृत कर चुके है।

जहां चार वेद थे वहां चार उपवेद भी थे। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद था, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद था सामवेद का उपवेद गान्धर्व-वेद था, जिसमें नृत्य, नाट्य, संगीत आदि सभी प्रौढ़ि को प्राप्त कर चुके थे, अथर्ववेद का उपवेद-स्थापत्य वेद था इसी उपवेद में पारिभाषिक विज्ञान जैसे Engineering, Architecture आदि तथा यन्त्र-विज्ञान भी काफी प्रकर्ष को प्राप्त कर चुके थे। इस प्रकार एक शब्द में यह कहा जा सकता है शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण इन छः वेदांगों के साथ उपयुक्त चार उपवेदों के द्वारा प्रायः सभी विज्ञानों (Pure, Positive and Technical) का जन्म एवं विकास हुआ।

धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव विरचित समरांगण सूत्रधार ही एक-मात्र पूर्व मध्यकालीन, अधिकृत उपलब्ध शिल्प-ग्रन्थ है, जिस में स्थापत्य की प्रायः सभी प्रमुख कलाओं का प्रतिपादन है। अन्य प्राप्य वास्तु-शिल्प-ग्रन्थों में केवल भवन कला, नगर-कला, मूर्ति-कला के अतिरिक्त अन्य कलाओं की व्याख्या नहीं प्राप्त होती है। शिल्प-रत्न एक प्रकार से अर्वाचीन ग्रन्थ है, जो उत्तर मध्यकाल के बाद लिखा गया था, उसमें भी इन तीनों कलाओं के साथ चित्र-कला का भी वर्णन है। इसी तरह अपराजित पृच्छा में भी इन चार प्रधान स्थापत्य-कलाओं का प्रतिपादन है।

समरांगण-सूत्रधार ही एकमात्र ग्रन्थ है जिसमें निम्न छहो कलाओं का अधिकृत विवेचन है —

१ भवन-कला २ नगर-कला
३ प्रासाद-कला ४ मूर्ति-कला
५ चित्र-कला ६ यन्त्र-कला

अपराजित-पृच्छा को छोडकर अन्य ग्रन्थों में जैसे मानसार एवं मयमत आदि मे भवन-कला में भवन केवल विमान अथवा प्रासाद है। इस प्रकार से ये ग्रन्थ (Civil Architecture) से सर्वथा शून्य है। समरांगण-सूत्रधार ही हमारे देश में (Civil Architecture) का स्थापक ग्रन्थ है। चूंकि यह स्तम्भ आनन्त्य एवं यन्त्र से सम्बद्ध है अत इस विषयान्तर पर पाठक हमारा भवन-निवेश को देखें।

समराङ्गण-सूत्रधार का अध्ययन —अस्तु इस उपोद्घात् के उपरान्त हमें समरांगण-सूत्रधार के अध्ययन की ओर विद्वानों को आकर्षित करना है। भारत सरकार ने भारतीय वास्तु-शास्त्र देश ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन में अवशेष जिन छैः ग्रन्थों के लिए अनुदान स्वीकृत किया था उसके अनुसार अपनी पुनः परिष्कृत योजना में निम्न प्रकाशन व्यवस्था की है —

१—भवन-निवेश	भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद
	भाग द्वितीय—मूल एवं वास्तु-पदावली
२—प्रासाद-निवेश	भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद
	भाग द्वितीय मूल एवं शिल्प-पदावली
३ - यन्त्र एवं चित्र	भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद
	भाग द्वितीय—मूल एवं चित्र-पदावली।

टि० —प्रथम प्रकाशन (भवन-निवेश) के अनुसार ग्रन्थ-कलेवरानुरूप कुछ परिवर्तन भी अपेक्षित हो सकता है।

भवन-निवेश के दोनों भाग प्रकाशित हो चुके हैं। अब इन चारों भागों के प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है तो उपर्युक्त व्यवस्था में थोड़ा सा परिवर्तन अनिवार्य हो गया है। इन अवशेष चारों भागों को निम्न रूप प्रदान किया है जिसमें महती निष्ठा के साथ तथा सतत प्रयत्न एवं अध्यवसाय के साथ इन चारों ग्रन्थों को प्रकाश्य बना सका हूं वे अवश्य ही विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे तथा हमारे पूर्वजों की पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक देन का मूल्याङ्कन भी हो सकेगा।

सव-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि हम राज-भवन को प्रासाद-निवेश मे शिल्प-शास्त्रीय दृष्टि से सम्मिलित नहीं कर सकते। इस पर प्रासाद-निवेश मे जो हमने परिपुष्ट प्रमाणो से इस सिद्धान्त को दृढ किया है वह वहीं पठनीय है। पुनश्च चित्र और यन्त्र ये सब ललित कलाए राज भवन के अभिन्न अंग थे। अतएव चित्र एव यन्त्र को हमने राज-निवेश राज-भवन उपकरण, राज-भोगोचित विलास क्रीडाओ मे सम्मिलित किया है। आलेख्य अर्थात् चित्र-कला एव यन्त्र जैसे आमोद, सेवक द्वारपाल योध विमान, धारा एव दोला आदि यन्त्रो का एकत्र व्यवस्थापन कर इस तृतीय खण्ड को द्वितीय खण्ड के रूप मे प्रकल्पित कर दिया है। भारतीय स्थापत्य का सबसे प्रमुख शास्त्रीय एव स्मारक प्रोल्लास प्रासाद-शिल्प (Temple Architecture) है। वह एक प्रकार से वर्मोन्नति तथा विकास है अत उसको अन्तिम अर्थात् तृतीय खण्ड मे व्यवस्थापित किया है। अत जैसा ऊपर सकेत किया है कि प्रथम विभागीकरण से थोडा अन्तर होगा—अर्थात् तृतीय अध्ययन द्वितीय अध्ययन के रूप मे परिवर्तित कर दिया गया है। अतएव निम्न अवशेष चारो भागो की तालिका उद्धृत की जाती है —

१	यन्त्र एव चित्र	भाग-प्रथम—अध्ययन एव अनुवाद।
२	यन्त्र एव चित्र	भाग-द्वितीय—मूल एव वास्तु-शिल्प-चित्र पदावली
३	प्रासाद-निवेश	प्रथम भाग अध्ययन एव अनुवाद।
४	प्रासाद निवेश	मूल एव शिल्प-पदावली।

राज सरक्षण मे प्रोल्लसित स्थापत्य —इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम इस भूमिका मे यन्त्र एव चित्र पर शास्त्रीय दृष्टि से थोडा सा विचार अवश्य प्रस्तुत करना चाहते हैं। स्थापत्य को हम तीन तरह से समझने की कोशिश करें —

अ चतुर्धा स्थापत्य अर्थात् स्थपति-योग्यताए

ब स्थपति कोटि-चतुष्टय

स अष्टाग स्थापत्य

जहा तक 'अ' और 'स' का प्रश्न है वह हम अपने भवन-निवेश मे पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं। अत यहा पर इन दोनों की अवतारणा आवश्यक नहीं। यहा पर स्थपति-कोटि-चतुष्टय की अवतारणा अनिवार्य है। मानसार मयमत आदि तथा समराङ्गण-सूत्रधार आदि शिल्प एव वास्तु ग्रन्थो से निम्न लिखित शिल्पियो की चार कोटिया प्राप्त होती है —

१ स्थपति (Architect-in-Chief)
२ सूत्र-ग्राही (Engineer)
३ वर्धकि (Carpenter)
४ तक्षक (Sculptor)

जहा तक इस ग्रन्थ का सम्बन्ध है उसमे स्थपति, वर्धकि और तक्षक की कलाओ का विशेष साहचर्य है। राज निवेशोचित एव राज भोगोचित केवल चित्र-कलाए (आलेख्य एव पाषाणजा तथा धातुजा) ही अनिवार्य अग नही थी वरन् राज-भवनो मे शयन अर्थात् शय्या, आसन अर्थात् -सिंहासन आदि, पादुका कघे आदि फर्नीचरो का भी इन कलाओ मे वर्धकि का कौशल माना गया है। अत हम इस ग्रन्थ मे शयनासन-सम्बन्धी अध्यायो को भी लाकर इस परिमार्जित सस्करण से वैज्ञानिक व्यवस्था प्रदान की है।

समरागण सूत्रधार के परिमार्जित सस्करण का जहा तक भवन-निवेश का सम्बन्ध था वह हम भवन-निवेश के अध्ययन मे पहले ही कर चुके हैं। अब यहा पर इस भाग म आगे के ग्रन्थ-अध्यायो के परिमार्जित सस्करण-तालिका उपस्थित करेंगे, परन्तु इससे पूर्व हमे एक मौलिक आधार पर विद्वानो और पाठकों का ध्यान आकृषित करना है।

'चित्र' पद का अर्थ एकमात्र आलेख्य नही है। स्थापत्य कौशल की दृष्टि से चित्र का पारिभाषिक एव शास्त्रीय अर्थ प्रतिमा है। इसीलिए पुराणो म (देखिए विष्णुधर्मोत्तर), आगमो म (देखिए कामिकागम) तथा अन्य दाक्षिणात्य शिल्प-ग्रन्थो (जैसे मानसार, मयमत आदि) म सभी म चित्र अर्थात् प्रतिमा के निर्माण मे तीन आधार-भौतिक (Fundamental) आकारानुरूप प्रकार बताए गए हैं —

१ चित्र (Fully Sculptured)
२ अर्ध-चित्र (Half Sculptured)
३ चित्राभास (Painting)

पुन परिमार्जन—अतएव हमने चित्र के विवेचन मे समरागण का प्रतिमा-शास्त्र-कलेवर भी चित्र-निवेश के साथ व्यवस्थापित किया है। अत अब हम समरागण के इस अध्ययन मे अध्यायो के परिमार्जित सस्करण की दृष्टि से जो व्यवस्था की है, उसकी यह तालिका अब उद्धृत की जाती है।

भवन-निवेश मे हमने समरागण के ८३ अध्यायों मे से ३९ अध्यायो की वैज्ञानिक पद्धति से जो परिमार्जित एव सस्कृत अध्याय तालिका प्रस्तुत की है- वह

वही द्रष्टव्य है। यहा पर चालीसवें अध्याय से यह तालिका प्रस्तुत की जाती है। इसकी अवतारणा के पूर्व प्रमुख विषयो पर भी प्रकाश डालना उचित है, जो तीन खण्डो मे प्रविभाज्य है।

अ राज-निवेश
१ प्रारम्भिका,
२ राज निवेश एव राज-भवन,
३ राज-भवन-उपकरण—सभा, अश्व-शालादि,
४ राजभवनोचित फर्नीचर—शयनासनादि,
५ राज-विलासोचित—यन्त्रादि।

ब राज सरक्षण मे प्रवृद्ध कलाए—चित्र-कला (Painting)

स राज पूजापयोगी-प्रतिमा-शिल्प—प्रतिमा कला (Sculpture)

अ राज-निवेश

परिमार्जित सख्या	अध्याय-शीर्षक	मौलिक सख्या
	प्रथम पटल—प्रारम्भिका	
४०	वेदी लक्षण	४७
४१	पीठ-मान	४०
	द्वितीय पटल—राजनिवेश राज भवन एव उपकरण	
४२	राज-निवेश	१५
४३	राज-गृह	३०
	राजभवन-उपकरण।	
४४	सभाष्टक	२७
४५	गज-शाला	३२
४६	अश्व शाला	३३
४७	नृपायतन	५१
	तृतीय पटल—शयनासनादि-विधान	
४८	शयनासन लक्षण	२९
	चतुर्थ पटल—यन्त्र-विधान	
४९	यन्त्राध्याय	३१
	पञ्चम पटल—चित्र लक्षण	
५०	चित्रोद्देश	७१
५१	भूमि-बन्धन	७२

राज सरक्षण मे पल्लवित एव विकसित इन ललित कलाओ की ओर थोडा सा उपोद्घात एव इस ग्रन्थ की परिमार्जित सस्करण की ओर पाठको एव विद्वानो का ध्यान दिलाकर अब हम इस अध्ययन की ओर जा रहे है। इस अध्ययन में हमे निम्नलिखित तीन स्तम्भो पर प्रकाश डालना है –

१ राज निवेश एव राज निवेशोचित भवन, उप भवन एव उपकरण,
२ यन्त्र विधान,
३ चित्र-विधान।

वैसे तो हमने अपने इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड (अनुवाद) मे इन विषयो का निम्नलिखित षट् पटलो मे विभाजित किया है जो शास्त्रीय विषय-वैशिष्ट्य की ओर सकेत करता है –

प्रथम पटल—प्रारम्भिका—वेदी एव पीठ;
द्वितीय पटल—राज-निवेश एव राज-निवेशोपकरण।
तृतीय पटल—शयनासन-विधान,
चतुर्थ पटल—यन्त्र-विधान,
पचम पटल—चित्र-कर्म,
षष्ठ पटल—चित्र एव प्रतिमा के सामान्य अग।

परन्तु अध्ययन की दृष्टि स यथा-सूचित स्थपति-कोटि-चतुष्टय के अनुसार राज-निवेश स्थपति का कौशल है, शयनासन वधकि का कौशल है यन्त्र तो वधकि एव स्थपति दोनो के कौशल, है, ये स्वत सिद्ध होते है। चित्र-कर्म तक्षक (Sculptor) और चित्र-कार (Painter), दोनो मे विभाजित हो सकता है। इस दृष्टि से हमने स अध्ययन को केवल तीन ही स्तम्भो मे परिशीलन समीचीन समझा। पहले हम राज निवेश ले रहे हैं जिसमे राज निवेश, राज भवन, राज-निवेश-उपकरण तथा राजोचित शयनासन तथा राज-विलासोचित यन्त्र भी गतार्थ है। अत इस प्रमुख स्तम्भ मे इन सभी सहायक स्तम्भो पर अलग अलग कुछ विचार करेंगे।

यत राज-निवेश एव ललित कलाय एक प्रकार से आश्रय-आश्रयि भाव-निबन्धन हैं, अत ललित कलाओ जैसे चित्र एव प्रतिमा का पूर्ण समन्वय असभाव्य है, जब तक इस राजाश्रय की देन को हम स्मरण न करे।

राज-निवेश

राज-प्रासाद के निवेश मे सब-प्रमुख अग कक्ष्यायें (Courts) थी। रामायण (देखिए दशरथ और राम के राज-प्रासाद-वर्णन) और महाभारत म भी वैसी ही परम्परा पाई जाती है। राज प्रासादो मे कक्ष्याओ का सनिवेश मध्य-कालीन एव उत्तर मध्य कालीन किसी भी राज प्रासाद को देखें तो उनमे कक्ष्याओ का सब-प्रमुख अग दिखाई पडेगा। राज निवेश मे राज-निवेश वास्तु का दूसरा प्रमुख अग स्तम्भ बहुल सभायें, शालायें, सभा मडप सभा-प्रकोष्ठ थे। जहा तक भूमिकाओ (Storeys) का प्रश्न है वह समरागण-सूत्रधार की दृष्टि से राज-भवन म कोई वैशिष्ट्य नही रखती। समरागण सूत्रधार म राज-निवेश त्रिविध परिकल्पित किया गया है—शासनोपयिक अर्थात राजधानी और राज्य-सचालन की दृष्टि से किस प्रकार से राज-निवेश परिकल्पित करना चाहिए, आवासोपयिक अर्थात आवास की दृष्टि से राजा-रानिया विशेषकर महिषी, राजकुमार, राज-माता, अमात्य, सेनापति, पुरोहित आदि के वेश्मो के सस्थान आदि, पुनश्च राज निवेश की तीसरी आवश्यकता विलास-भवन है। समरागण-सूत्रधार में राज-भवनो को दो वर्गो म वर्णित किया गया है—*निवास-भवन तथा विलास-भवन।*

जहा तक निवास-भवनो का प्रश्न है उनमे कक्ष्याए अर्थात् शालाए अलिन्द आदि विशेष महत्व रखते हैं। उनमे भौमिक भवनो (Storeyed Mansions) का कोई स्थान नहीं, परन्तु विलास-भवनो मे भूमियो का अवश्य निवेश प्रदान

किया गया है। आवास की दृष्टि से वास्तु-शास्त्र-शिला भूमिकाओं का प्रयोग इस उष्ण-प्रधान देश मे उचित नहीं माना गया। हा विलास-भवनो मे भूमियो का यास शोभा-मात्र तथा वास्तु-विच्छित्ति-वैभव की दृष्टि से उत्तुङ्ग विमानकारो के कलेवर की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण माना गया है। चित्र-शालाए नृत्य-शालाए सगीत-शालाए आदि भी भौमिक विमानो के सदृश परिकल्पित की गई थी। ये सब विलास भवन हैं।

मयमत और मानसार मे जो विमान-वास्तु अथवा शाला-वास्तु का प्रतिपादन है, वह एक प्रकार से दाक्षिणात्य परम्परा का उद्बोधक है। हमारे देश मे दो प्रमुख स्थापत्य-शैलिया विकसित हुई एक नागर, दूसरी द्राविड। द्राविड कला नागो और असुरो की अति-प्राचीन कला से प्रभावित हुई। उत्तुङ्ग विमान शैलोपम, प्रसाद-शिखिरावलि-आभा से द्योतित इन भवना का विकास विशेषकर दक्षिण भारत की महती देन है। नाग और असुर महान कुशल तक्षक थे। डा० जायसवाल ने अपने ग्रथ मे इस ऐतिहासिक तथ्य पर विशेष कर भारशिव नागों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। य शुग एव वाकाटक वश से बहुत पूर्व माने जाते हैं। पुरातत्वीय अन्वेषणो (मोहेनजोदाडो हडप्पा आदि) के निदर्शनो से भी यह परम्परा पुष्ट होती है। नागर वास्तु-विद्या के विकास पर वैदिक सस्कृति का विशेष प्रभाव है। शालाए ही उत्तरापथ की किसी भी भवन की अग्रजा थी। शालाओं एव शाल-भवनो के जन्म एव विकास के सम्बन्ध मे हमने इस ग्रथ के प्रथम अध्ययन (देखिए भवन-निवेश) मे बडी ही मनोरक कहानी तथा ऐतिहासिक तथ्यो का विश्लेषण किया है। मयमत और मानसार को देखें तो उत्तरापथीय यह शाला-वास्तु इन दाक्षिणात्य ग्रथो मे विमान-वास्तु की गोद मे खेलने लगा। विमाना के सदृश शालाए भी भौमिक कल्पित की गई। शिखर तथा अन्य विमान भूषाए भी उनके अग बन गई।

अस्तु समरागण-सूत्रधार की दृष्टि से राज प्रासाद के निवेश मे शालाओ के साथ अलिन्द (कक्ष्याए) तथा स्तम्भ विशेष महत्व रखते हैं। इस अध्ययन के द्वितीय खण्ड (अनुवाद) मे जो राज-निवेश एव राज-गृह इन दो अध्यायो मे जो विवरण प्राप्य हैं, उनसे यह औपोद्घातिक सिद्धान्त पूर्ण पुष्टि को प्राप्त होता है।

कोई भी भवन वास्तु-कला की दृष्टि से पूर्ण नही माना जा सकता, जब तक भव्य आकृति के लिए कुछ न कुछ विच्छित्तियो का अनिवार्य रूप से विन्यास

न बताया जाय। नागर-शैली के अनुसार राज-प्रासाद स्थापत्य मे महाद्वार प्रतोली, अट्टालक, प्राकार, वप्र और परिखा इन साधारण निवेश-क्रमो के साथ जहा तक विच्छित्तियों का प्रश्न है, उनमे तोरण, सिंह-कर्ण, नियूह, गवाक्ष, वितान और लुमाओं की भूषा एक प्रकार से अनिवार्य मानी गई है।

आधुनिक विद्वानो ने वितान वास्तु (Dome-Architecture)को फारस की देन (Persian Contribution) मानी है। इसी प्रकार से स्थापत्य पर कलम चलाने वाले लेखक धारागृह, लाजवर्दी जैसे रगो को भी फारस की देन मानते है। यह सब धारणाए भ्रान्त हैं। लाजवर्दी का हमने अपने चित्र-लक्षण (Hindu Conons of Painting) मे विष्णु-धर्मोत्तर के 'राजावर्त' से, तथा उत्तर-प्रदेश के पूर्वीय इलाको मे लजावर शब्द के प्रचार से, जो समीक्षा दी है, उससे इस भ्रान्ति को दूर कर दिया है। अब आइए वितान की ओर। वितान का अर्थ Canopy है और लुमाओ का अर्थ एक प्रकार से पुष्प-विच्छित्तिया है। वितानो के प्रकार पचीस माने गये हैं और लुमाए सप्तधा परिकीर्तित की गई है। समरागण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र ११वी शताब्दी का एक प्रथित वास्तु-ग्रन्थ है। उससे पहले इस देश मे फारस का प्रभाव नगण्य था। उत्तर-मध्यकाल (विशेष कर मुगलकाल) मे फारस की बहुत सी परम्पराओ ने यहा पर अपने पैर जमाए, परन्तु इन वास्तु-वैभवो का पूर्ण परिपाक हो चुका था। मानकद ने भी अपराजित-पृच्छा की भूमिका मे इस तथ्य का परिपोषण किया है। धारा-गृह तो हमारे देश मे प्राचीन काल से राज-प्रासादो के प्रमुख अग थे, अत उन्हें फारस की देन मानना भ्रामक है। अस्तु, इस उपोदघात के बाद राज प्रासाद के नाना निवेशागो पर दृष्टि डालना उचित है।

राज-निवेशाग

१ निवास
२ धर्माधिकरण-स्थान
३ कोष्ठागार
४ पक्षि भवन, पशु भवन
५ महानस
६ आस्थान-मण्डप
७ भोजन-स्थान
८ वाद्य शाला
९ वन्दि-मागध-वेश्म
१० चर्मायुध-शाला
११ स्वर्ण-कर्मान्त-भवन
१२ गुप्ति
१३ प्रेक्षा-गृह
१४ रथ-शाला

१५ गज-शाला
१६ वापी
१७ अन्त पुर
१८ क्रीडा-शैला आलय
१९ महिषी-भवन
२० राज-पत्नी-भवन
२१ राजकुमार-गृह-भवन
२२ राजकुमारी-भवन
२३ अरिष्टा-गृह
२४ अशोक-वनिका
२५ स्नान-गृह
२६ धारा गृह
२७ लता-गृह
२८ दारू शैल, दारू-गिरि
२९ पुष्प-वीथी—पुष्प वेश्म
३० यन्त्र-कर्मान्त भवन
३१ पान-गृह
३२ कोष्ठागार (२)
३३ आयुध मन्दिर
३४ कोष्ठागार (३)
३५ उदूखल भवन तथा शिला-यन्त्र
३६ दारू कर्मान्त-भवन
३७ व्यायाम-शाला
३८ नाट्य शाला
३९ चित्र शाला
४० भेषज-मन्दिर
४१ हस्ति-शाला (२)
४२ क्षार-गृह—गोशाला
४३ पुरोहित-सदन
४४ अभिषेचनक-स्थान
४५ अश्व शाला—मन्दुरा
४६ राज-पुत्र-वत्स
४७ राज-पुत्र विद्यागम-शाला
४८ राज मातृ-भवन
४९ शिविका गृह
५० शय्या-गृह
५१ आसन-गृह—सिंहासन-भवन
५२ कासार तथा तडाग आदि
५३ नलिनी-दीर्घिका
५४ राज मातुल निकेतन
५५ राज-पितृव्य-भवन
५६ सामन्त वेश्म
५७ देव-कुल
५८ होराज्योतिषी-भवन
५९ सेनापति-प्रासाद
६० सभा

समराङ्गण-सूत्रधार के मलाध्याय (राज निवेश) में वर्णित इन निवेशों की इतनी सुदीर्घ तालिका देखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि इस राज-निवेश में आवास-निवेशों (Domestic Establishments) तथा शासन-निवेशों (Administrative Establishments) में पार्थक्य तथा इन दोनों का भिन्न भिन्न निवेश-क्रम अर्थात् इन दोनों की भिन्नता नहीं प्रतीत होती है। बात यह है कि हम किसी भी स्मारक-निदर्शनीय राज-भवन या राज-प्रासाद को देखें तो हमें ये राज-पीठ शासनोपयिक एवं निवासोपयिक दोनों

मस्थाग्रा के मिश्रण दिखाई देते हैं । राज स्थान के नाना राज भवन यही परम्परा पुष्ट करते है । मुगलो के राज भवन भी यही पोषण करते हैं। हम सस्कृत कवियो के काव्यो (कादम्बरी, हर्ष-चरित आदि आदि) का परिशीलन करें, तो उनमे भी राज-भवनो की द्विविधा निवेश प्रक्रिया का अवलम्बन किया गया है, जिस को हम वास्तु-शास्त्रीय दृष्टि से अन्त शाला और बहि शाला के रूप मे परिकल्पित कर सकते हैं। मुगलो के राज-पीठो को देखिए उनमे भी दीवाने आम तथा दीवाने-खास भी इसी अन्त शाला और बहि शाला के अनुगामी थे।

यहां पर एक और भी ऐतिहासिक तथ्य की ओर सकेत करना है। परा राज-भवन का श्रीगणेश दुर्गों (Fortresses) से प्रारम्भ हुआ था। इन दुर्गों मे सब मे प्रमुख अग रक्षा-व्यवस्था-निवश थे—जैसे महा-द्वार गोपुर-द्वार, पक्ष द्वार, अट्टालक, प्राकार परिखा, वप्र, कपिशीर्षक, काण्डवारिणी आदि आदि जा समरागण-सूत्रधार के इस राज-निवेश शीर्षक अध्याय मे भी इसी प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है । पुन कालान्तर पाकर जो राज-ऐश्वर्य तथा राज-भोग राज-शासन तथा राज-सभार विकसित हुए तो स्वत निवेशागो की सख्या भी बढती बढती इतनी बडी निवेश-सख्या हो गई ।

शास्त्रीय दृष्टि से अब हम राज-निवेश के यथानिर्दिष्ट प्रमुख अगो पर प्रकाश डालेंगे जिसमे राज निवश मे प्रथम स्थान आवास-भवन है, पुन विलास भवन आते हैं। उस के बाद अनिवार्य उपकरण भवन यथा सभा, गज-शाला, अश्व-शाला तथा राजानुजीवियो के आयतन-विशेष भी निर्देश्य हैं। इन सब पर हमे यहा विशेष प्रस्तार की आवश्यकता नही है, जो राज-निवेश-उपकरण शीर्षक—अनुवाद पटल म द्रष्टव्य है ।

यहा पर सबसे बडी शिल्पदिशा से जो वास्तु महिमा विवेच्य है, उसकी ओर अब हम कदम उठाते हैं ।

कक्ष्या-निवेश—अलिन्द-निवेश —शास्त्र एव कला दोनो दृष्टियो मे राज भवनो की प्रमुख विशेषता कक्ष्या निवेश है। मानसार आदि दाक्षिणात्य ग्रन्थों म तो अन्त शाला और बहि शाला के विवरण प्राप्त होते हैं, परन्तु समरागण सूत्रधार मे शालाओ एव अलिन्दो के ही विशेष विवरण राज-भवन विन्यास मे प्राप्त होते हैं। सौभाग्य से हम ने जब यह देखा कि प्राय प्रत्येक राज-भवन प्रभेद के प्रत्यक मे कम से कम चार अलिन्द अनिवार्य हैं तो जहा अलिन्द होंगे वहा खुले आगन अवश्य होगे । वृहत्सहिता म जो मुझे अलिन्द शब्द की निम्न

टीका —

'अलिन्दशादेन शालाभित्तिर्बहिर्च गमनिका जालकावृतागणसम्मुखा" मिली है, इसने पूरा का पूरा संदेह निराकरण कर दिया। अत समरांगण-दिशा मे भी जो निदर्शन प्राप्त होते हैं उसका भी परिपोषण इस ग्रन्थ से प्राप्त होता है।

राज भवन-वास्तु-तत्व —राज-प्रासाद व राज-भवन मेरी दृष्टि मे चारो भवन-शैलियो (प्रासाद-वास्तु सभा वास्तु (मण्डप—वास्तु), शाला वास्तु तथा दुर्ग-वास्तु) के मिश्रण हैं। प्रासाद वास्तु का अनुगमन इसमे विशेषकर शृगो मे ही आभास प्राप्त होता है। समरागण की दिशा म आवास-भवन यत अट्टालकादि, प्राकारादि विशेषा से ही विशिष्ट है, परन्तु विलास-भवन यत भौमिक भी है अत उनमे शिखरावलिया एव शृग-भूषायें विशेष विभाव्य हैं। अब आइये सभा वास्तु की ओर। सभा-वास्तु की सर्व-प्रमुख विशेषता स्तम्भ-बहुलता है। विश्वकर्म वास्तुशास्त्र मे नाना सभाओ का जो वर्णन प्राप्त होता है उन मे विशेष महत्व स्तम्भ-संख्या का है। दक्षिण की आ मूर्तियें वहा जो मण्डप वास्तु महान प्रकर्ष को पहुचा था उसम भी यही स्तम्भ-बाहुल्य-विशेषता है। वहा के मण्डपो की शत-मण्डप सहस्र-मण्डप इन संज्ञाओ का अर्थ स्तम्भ-संख्या का द्योतक है अर्थात सौ खम्भो वाले मण्डप या हजार खम्भो वाले मण्डप। किसी भी प्राचीन राज प्रासाद-निदर्शन का —मुगलो के अथवा राजस्थानियो के सभी म सभा-मण्डप आस्थान मण्डप आदि जितने भी वहा दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उन सभी मे स्तम्भ-बाहुल्य भी साक्षात प्रतीत होता है। तीसरा वास्तु-तत्व अर्थात शाला-वास्तु वह भी राज-भवन के मूल न्यास के प्रतिष्ठापक है। शाल भवनो की कहानी, शाला का अर्थ (अर्थात् कक्ष्या कमरा चैम्बर), शाल-भवन-विन्यास प्रक्रिया, द्रव्याद्रव्य-योजना योज्यायोज्य-व्यवस्था आदि आदि पर हम अपने भवन-निवेश म इस सम्बन्ध म बहुत कुछ कह चुके हैं उसकी पुनरावृत्ति यहा आवश्यक नहीं। यहा तो केवल इतना ही सूच्य है कि इन राज-भवनो मे भी शालाए ही सर्वाधिक विन्यास के अंग है। अब आइये चौथे तत्व पर जिस पर हम पहले ही कुछ निर्देश कर चुके है अर्थात् महाद्वार, गोपुरद्वार, पक्षद्वार अट्टालक, प्राकार, परिखा, वप्र आदि।

इन वास्तु-तत्वो की इस अत्यन्त स्थूल समीक्षा के उपरान्त अब हमे दो महत्वपूर्ण वास्तु-तत्वो पर भी प्रकाश डालना है। पहला प्रश्न यह है अथवा पहली समस्या यह कि राज-भवन, देव-भवन के अग्रज है या अनुज हैं? इस

प्रश्न को हम यहा नही लेना चाहते, इसका उत्तर हम अन्तिम अध्ययन (प्रासाद-निवेश) म देंगे। जब तक हम प्रासाद-वास्तु की उत्पत्ति, प्रसूति, शैली, निवश अगोपाग, भूषा तथा अ य निवश—इन सब का जब तक शास्त्रीय एव कलात्मक विवरण न प्रस्तुत किया जाय तो इस वैमत्य अथवा ऐकमत्य का समथन या खण्डन कैसे किया जा सकता है। अत यह प्रश्न वही पर विश्लेषणीय है।

अब आइये दूसरे प्रश्न पर, प्राचीन राज-भवनो मे जो वितान-वास्तु (Dome architecture) के त व एव निदर्शन मिलते हैं, वे हमारे शास्त्र और कला के निदशन है अथवा ये फारस की देन हैं? आधुनिक वास्तु कला-विशारदो न भारत के वितान-वास्तु को फारस का श्रेय माना है। यह धारणा मेरी दृष्टि मे भ्रामक है। समरागण-सूत्रधार के राज-गृह-शीर्षक अध्याय मे राज गृह की नाना विच्छित्तिया पर जो प्रवचन प्रदान किय गये है उनमे नियूह, कपोत पाली, सिंह-कण, तोरण, जालक आदि के साथ साथ वितान और लुमाओ पर भी बडे पृथुल प्रतिपादन प्राप्त होते है। वितानो की संख्या पचीस है (दे० अनु०) और लुमाओ की विधा है सात (दे० अनु०)। अब वितान का क्या अर्थ है एव लुमा का क्या अथ है—यह समझने का प्रयास करें। लुमा पौष्पिक विच्छित्ति (Flower-like decorative motif) है जो वितान (Canopy) का अभिन्न अग है। लुमा और लुपा शिल्प दृष्टि से एक ही हैं। दाक्षिणात्य ग्रन्थों (दे० मानसार) म लुमा के स्थान पर लुपा का प्रयोग है। रामराज ने जो लुपा की व्याख्या दी है वह हमारे इस तथ्य का पोषण करती है। यह व्याख्या उद्धरणीय है —

'A sloping and projecting member of the entablature etc representing a continued pent roof It is made below the cupola and its ends are placed as it were, suspended from the architrave and reaching the slab of the lotus below'

इस दृष्टि से य लुमाएं (पौष्पिक विच्छित्तिया) वितान (dome) की अभिन्न अग हैं। रामराज की परिभाषा ने लुमाओ को वितान (dome) के गोद म क्रीडा करवा दी है। अत वितान-वास्तु (Dome Architecture) हमारे देश की ही विभूति है। अपराजित-पृच्छा मे भी जो लुमाओ और वितानो के विवरण प्राप्त होते हैं, वे भी इस सिद्धान्त को दृढ करते हैं। मानकद ऐसे आधुनिक प्रथित-कीर्ति इजीनियर, जिन्होने अपराजित-पृच्छा की भूमिका लिखी है, उस म जो उन्होने अपना मत दिया है वह भी हमारी धारणा का समथन करती

यद्यपि वे कुछ विशेष इस सम्बन्ध मे मुखर नही हैं।

अब अन्त मे जहा तक स्मारक-निदर्शनो का प्रश्न है, उनको अब हम यहा पर विशेष-विस्तार से नही छेडना चाहते हैं, यत यह शास्त्रीय अध्ययन है। सुदूर अतीत मे निर्मित अशोक का राज-प्रासाद जो काष्ठमय था वह भी सभा-वास्तु का प्रथम निदर्शन है। साथ ही साथ इहा स्तम्भो की विच्छित्तिया आगे चलकर प्रासाद-स्थापत्य जैसे आमलक एव गुप्त-कालीन-विच्छित्तियो यथा घट-पल्लव आदि सभी के प्रारम्भक है। सकप-नामक प्राचीन नगरी के भग्नावशेषो मे, अमरावती तथा अजन्ता के स्मारको मे गुप्तकालीन राज-भवनो के निदर्शनो म—य सब वास्तु-तत्व प्रत्यक्ष दिखाई पडते हैं।

आगे चलकर मध्यकालीन राज-भवनो की अभिरया देखें एव सुषमा निहारें तो इन राज-गृहो मे बडे विस्तार सभार प्राप्त होते है। विशेषकर उत्तर-मध्यकाल मे राजपूताना बुन्देलखण्ड तथा मध्यप्रदेश मे जो राज-भवन बनें जैसे—धारा और ग्वालियर एव दतिया और ओरछा अम्बर तथा उदयपुर एव जोधपुर और जयपुर आदि इन नगरो मे जो राज-भवन-निदर्शन प्राप्त होते हैं वे सब राज भवनो की एक परम्परागत अटूट शैली एव श्रणी के उद्बाधक हैं। जहा तक राज भवन-वर्गों की बात है वह अनुवाद मे द्रष्टव्य है। राज भवन प्रधानतया द्विविध हैं निवास-भवन तथा विलास-भवन। दोनो के नाना पारिभाषिक भेद है जैसे पृथ्वीजय आदि व सब वही पठनीय हैं। इस थोडी सी समीक्षा के उपरान्त समरागण के शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से थोडा सा राज-निवेश-उपकरणो पर भी सकेत आवश्यक है।

राज-निवेश-उपकरण —इस ग्रन्थ में सभा गज-शाला अश्व-शाला तथा आयतन (अर्थात राजानुजीवियो के घर जो राज-भवन से न्यून प्रमाण मे विनिर्मेय हैं,) ही विशेष उल्लेख्य हैं। जहा तक सभा गजशाला का प्रश्न है उनके विवरण अनुवाद मे ही दृष्टव्य हैं, परन्तु अश्व-शाला के सम्बन्ध मे सबसे महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य यह है कि किसी भी वास्तु या शिल्प ग्रन्थ मे इतना वैज्ञानिक, पारिभाषिक एव पृथुल प्रतिपादन नही प्राप्त होता। इस अध्याय मे कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द भी हैं, जिनका अर्थ बडे ऊहापोह के बाद लग सका। उदाहरण के लिए लीजिए 'स्थानानि' इसका अर्थ स्थान है। परन्तु उत्तर प्रदेश के किसी पुर, पत्तन ग्राम मे जाइये तो वहा पर जहा घोडे बाधे जाते हैं, उनको थाना कहते हैं और वे थाने बडे विशाल एव विस्तृत बनाए जाते थे। अत वास्तु-दृष्टि से यह पद (स्थान) थाना का पूर्ण परिचायक है। जिस

प्रकार अभी तक बेसर अथवा अण्डक अथवा अन्य अनेक वास्तु-पदो के जो अ अज्ञेय थे, उनको मैंने महामाया की कृपा से ज्ञेय बना दिया। भवन-निवेश क चय' शीर्षक अध्याय को देखें, वहा पर 'चय', 'छचक' आदि नाना पदों की जो व्याख्या दी है, उससे हमारा यह वास्तु-शास्त्र कैसा पारिभाषिक शास्त्र म परिणत हो गया है। अभी तक आधुनिक विद्वानो ने इन वास्तु-शास्त्रीय प्रथा का पौराणिक अथवा कपोल-कल्पित अथवा मनघडन्त के रूप मे मूल्याकन करते आए हैं। अस्तु अश्वशाला के भी विवरण वही अनुवाद मे अवलोक्य है। हा यहा पर थोडा सा सभा तथा अश्वशाला के प्रमुख निवेशागो पर थोडा सा प्रकाश आवश्यक है।

सभा —सभा भवन-वास्तु की सब प्राचीन कृति है। वैदिक वाङमय तथा विशेष कर महाभारत एव रामायण मे सभाओ के अनेक उल्लेख एव विवरण मिलते है। महाभारत म तो एक पर्व सभा पर्व के नाम से प्रथित है। जिसम यम-सभा, इन्द्र सभा वरूण-सभा, कुबेर-सभा, ब्रह्म सभा आदि प्रकीर्तित है। इन सभा-भवनो की विशेषता वैदिक काल से लेकर आज तक स्तम्भ बाहुल्य वास्तु वैशिष्ट्य है। राज-भवनो म जो अन्त शाला एव बहि शाला हैं वे भी सभा भवन पर बनी हैं तथा वेंही विच्छित्तिया दर्शनीय है। अनुवाद भी यही समर्थन करता है।

अश्वशाला – अब आइये अश्व शाला की ओर, जिसम निम्नलिखित निवेशो का प्रतिपादन आवश्यक है –

१ अश्वशाला-निवेश अगोपाग सहित ,

२ अश्वशालीय सभार ,

३ घोडो के बाधने की प्रक्रिया एव पद्धति ,

४ अश्वशाला के उप-भवन (Accessory Chambers)

अश्व-शाला-निवेश अनुवाद मे दष्टव्य है, परन्तु इसके प्रमुख निवेशाग निम्न है

१ यवस स्थान (Granary) जहा पर घास जमा की जाती है ;

२ खादन-कोष्ठक (Manager) अर्थात् नाँद ,

३ कीलक अर्थात खूटे जिनके द्वारा उनका पञ्चागी-निग्रह अनिवार्य है।

इन सब निवेशो के विवरण-प्रमाण, आयाम, उचित-स्थान सब अनुवाद मे द्रष्टव्य है।

४ अश्वशालीय सभार—अग्नि स्थान, जल स्थान, ऊलूखल निवेश स्थान आदि के अतिरिक्त जो सम्भार अभिधाय है उनमे निश्रेणी (Stai-case) कुश,

फलक, उद्दालक, गुडक, शुक्त-योग, खुर, कची, सीग, कुल्हाडी, नाद, प्रदीप हस्तवासी, शिला दर्वी, थाल, उपानह पिटक तथा नाना वस्तियाँ—ये सब अनिवार्य सभार है ।

घोडो के बांधने की प्रक्रिया एव पद्धति थाने (स्थानानि) इस पद पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। रघुवश (पाचवा सर्ग) देखिए 'दीर्घेष्वमी नियमिता पटमण्डपेषु' इन स्थानो—थानो का समर्थन करता है। इन थानो का सामुख्य, स्थापन, दिङ-सामुख्य निवेश्य पद आदि पर जो विवरण आवश्यक है वे सब वही अनुवाद मे द्रष्टव्य है ।

अश्वशाला के उप-भवन—भेषजागार या ओषधि-स्थान (Medical Home)—इसके लिए निम्नलिखित चार उप-भवन (Accessory Chambers) अनिवार्य विवेश्य हैं —

१ भेषजागार (Dispensary)
२ अरिष्ट-मन्दिर (The lying-in-Chamber)
३ व्याधित-भवन (The hospital and sick-ward)
४ सवसम्भार-वेश्म (Medical Stores)

यहां पर सब प्रकार की औषधियां तेल, नमक, वनियां आदि आदि सग्रहणीय है ।

इन अश्व-शालाओ के निर्माण मे वास्तु-शास्त्र की दृष्टि से इन्हे विशाल बनाना चाहिए तथा इनकी दीवालो को सुधा व ध से दृढ करना चाहिए और इनमे प्राग्रीवो की अलकृति भी आवश्यक है। इससे इन अश्व शालाओ के द्वार उत्तुग एव अलकृत दिखाई पडते हैं ।

शयनासन

वास्तु की व्युत्पत्ति वस्तु पर निर्धारित है। वस्तु है भूमि वास्तु हुआ भौम या भौमिक। जो भी पार्थिव पदार्थ या द्रव्य है उसको जब किसी भी क्रिया से किसी भी कृति मे हम परिणत कर देते है तो वह वास्तु बन जाता है। समरागण-सूत्रधार का यह निम्न प्रवचन इसी तथ्य एव सिद्धान्त को दृढ करता है —

'यच्च येन भवेद् द्रव्य मेय तदपि कथ्यते —'मेय मे वास्तु के मान का महत्व-पूर्ण स्थान विहित है । बिना प्रमाण कोई भी वास्तु निश्चित कृति मे नहीं परिणत हो पाता। अतएव भारतीय वास्तु-शास्त्र का क्षेत्र बडा ही व्यापक है। वह सार्वभौमिक तो है ही साथ ही साथ आधिदैविक एव

आधिभौतिक भी है । वास्तु से तात्पय केवल पुर, नगर भवन, मंदिर या प्रतिमा मात्र से नही । जो भी निवसित है, जो भी मानित है वह सब वास्तु है। इस व्यापक दिशा मे तक्षण दारुकर्म आलेख्य-कर्म आदि भी गतार्थ हैं ।

स० सू० का यह शयनासन शीर्षक अध्याय बडा ही वैज्ञानिक, पारिभाषिक एव अनुपम है । अन्य किसी ग्र थ म ऐसा पृथुल एव प्रवृद्ध शयनासन विषयक प्रतिपादन नही मिलता । मानसार मयमत आदि शिल्प ग्र थो म वास्तु-भेद मे धरा यान, स्यन्दन (अथवा पर्यक) तथा आसन य हो चतुर्धा क्षेत्र ह तथापि इन ग्रन्था मे यहा सिंहासनादि एव अन्य पजर तथा नीडादि दोलादि दीप-दण्डादि नाना फर्नीचर के भी विवरण है तथापि वहा शय्या पर इतने वैज्ञानिक एव परिमार्जित विवरण नही मिलत।

शय्या अथवा आसन आदि इन विधानो क लिये सब प्रथम शुभ लग्न शुभ मुहत आवश्यक है । इन शय्याओ एव आसनो के निर्माण मे किस किस वक्ष की लकडी लानी चाहिए--य विस्तार बडे पथुल है (दे० अनुवाद) । राजो, महाराजो के लिए जो शय्या विहित है उसम स्वण रजत हस्तिदन्त आदि की जडावट आवश्यक है । शय्या की लम्बाई और चौडाई भी व्यक्ति-विशष के अनुरूप विहित है । राजाओ की शय्या १०८ अगुल के प्रमाण म बतायी गया है चौडाई से दुगुनी सदैव लम्बाई होनी चाहिए ।

एक-दारू-घटिता शटया प्रशस्त मानी गयी ह । द्वि-दारू-घटिता शय्या अनिष्ट बतायी गयी है । तथा त्रिदारु-घटिता शय्या तो शयालु की तात्कालिक मरण बताती है --

'त्रिदारुघटितायां तु शय्यायां नियतो वध

शय्याओ मे जो पारिभाषिक वास्तु पद दिये गय हैं व हैं--उत्पल, ईशा-दण्ड कुल्य तथा पाद । सबसे बडी विशेषता यह है कि घटिता शय्या मे ग्रंथिया कभी नही होनी चाहियें । ग्र थिया अथवा छिद्र दोनो ही वर्ज्य हैं । ग्रंथियो की निम्न षडविधा दृष्टव्य है --

निष्कुट	क्रोडनयन	कालक
कालदक्	वत्सनाभक	बन्धक

इन सबके विवरण अनुवाद मे अवलोकनीय है । अत यहा पर इतना सूच्य है कि शय्या कैसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से बनती थी । इसी प्रकार आसन, पादुका, कघे आदि भी इस शयनासन-विधान मे वर्णित किये गये हैं । अब आइये यन्त्र-विधान (यन्त्र-कला अर्थात् Mechanics) की ओर ।

राज-विलास
(नाना यन्त्र)

यन्त्र-घटना—महाकवि कालिदास के महाकाव्य (देखिए रघुवंश) में पुष्पक-विमान का जो उल्लेख है उसी प्रकार से पुराणों में बहुत से संकेत प्राप्त होते हैं उनसे जो यह परम्परा विमानों की ओर संकेत करती है, वह अभी तक कपोल कल्पना के रूप में कवलित की गई है। यन्त्र शब्द तन्त्र के समान ही बड़ा ही प्राचीन है। मेरी दृष्टि में तन्त्र वास्तव में शास्त्र अर्थात् पारिभाषिक शास्त्र की संज्ञा थी और यन्त्र एक प्रकार से पारिभाषिक कला थी। जो यन्त्र वही मशीन। मानव सब कुछ अपने हाथों से नहीं कर सकता था अतएव प्रत्येक जाति एवं देश की सभ्यता में यन्त्रों का जन्म एवं विकास प्रादुर्भूत हुआ। वात्स्यायन के काम सूत्र में जिन ६४ कलाओं का विलास वर्णित किया गया है उनमें यन्त्र मातृका भी एक थी। आज तक कोई भी विद्वान् इस कला की परिभाषा न दे सका न समझ ही सका। डा० आचार्य ने अपने ग्रन्थ में (H A I A) जिन्होंने इस कला की निम्न व्याख्या की है —

"the art of making monographs logographs and diagrams Yasodhara attributes this to Visvakarma and calls Chatana sastra (Science of accidents)

अर्थात् जिस दृष्टि से अर्थात् यशोधर की व्याख्या से आदरणीय डा० आचार्य जिस निष्कर्ष को पहुँचे हैं वह सर्वथा भ्रान्त है। इस काम-सूत्र के लब्ध-प्रतिष्ठ व्याख्याकार यशोधर की इसी व्याख्या से ही मैंने इस कला को वास्तविक रूप में ला दिया है। यशोधर ने इस कला की व्याख्या में लिखा है —

"सजीवानां निर्जीवानां यानोदकसंग्रामार्थघटनाशास्त्रं विश्वकर्मप्रोक्तम्"

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि यान से तात्पर्य विमानादि (Conveyance and aeroplanes) यन्त्रों से है उदक से तात्पर्य धारा तथा अन्य जलीय यन्त्रों से है तथा संग्राम से अर्थ संग्रामार्थ यन्त्रों से है जिनकी परम्परा वैदिक, ऐतिहासिक एवं पौराणिक सभी युगों में पूर्ण रूप से प्रवृत्त थी—जैसे आग्नेयास्त्र (Fire Omitter), इन्द्रास्त्र (Anti-Agneya Rain-producer), वारुणास्त्र (Producing terrible end violent storms)। इसी प्रकार महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भुशुण्डी, शतघ्नी तथा सहस्रघ्नी जो आजकल आधुनिक मशीनगन, स्टेनगन और टैंकों के साथ प्रकल्पित किये

जा सकते है। प्रश्न यह निस्सन्देह है, जैसा हमने ऊपर सकेत किया है, न्य दृष्टि से यह निरुप कि हम लोग यान्त्रिक-कला एवं यन्त्र-विज्ञान से सवथा शून्य थे, अपरिचित थे—यह धारणा निराधार है। अब देखें कि समरांगण सूत्रधार का यह यन्त्राध्याय किस प्रकार से इस भ्रान्त धारणा को उन्मूलन कर देता है। इस के प्रथम थोडा सा और उपोद्घात आवश्यक है।

हम बहुत बार पाठकों का ध्यान आकर्षित कर चुके हैं कि जहां वेद थे वहां उपवेद भी थे। उपवेद ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रों के जन्मदाता एवं प्रतिष्ठापक थे। यन्त्र-विद्या धनुर्विद्या की अभिन्न अंग थी। धनुर्विद्या धनुर्वेद के नाम से हम कीर्तित कर सकते है क्योंकि जिस प्रकार ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, उसी प्रकार से यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद (Military Science) था। धनु शस्त्रों एवं अस्त्रों का प्रतीक था। शस्त्र हमारे वाङमय मे चतुर्विध वर्गीकृत किये गये हैं —

१ मुक्त	२ मुक्तामुक्त तथा
३ अमुक्त	४ यन्त्र-मुक्त

उपर्युक्त शतघ्नी सहस्रघ्नी, चाप आदि सब यन्त्र-मुक्त शस्त्रास्त्र बोधव्य हैं। डा० राघवन ने अपने Yantras or Mechanical Contrivances in Ancient India नामक पुस्तक मे संस्कृत-वाङ्मय मे आपतित यन्त्र सन्दर्भों पर पूरा प्रकाश डाला है। परन्तु उनकी दृष्टि मे यन्त्र की व्याख्या उन्होंने यन्त्र-विज्ञान न मान कर यन्त्र-घटना अथवा गढन के रूप में परिकल्पित किया है। परन्तु समरांगण-सूत्रधार के यन्त्राध्याय के नाना प्रवचनों से यन्त्र विज्ञान की ओर पूर्ण प्रकाश पडता है। अत बिना dogmatic approach के हम आगे वैज्ञानिक ढंग से कुछ न कुछ इस तथ्य का पोषण अवश्य कर सकेंगे कि हमारे देश मे यन्त्र-विद्या (यन्त्र-विज्ञान) भी काफी प्रवृद्ध थी, जो महाभारत के समय की बात थी, परन्तु पूर्व एवं उत्तर मध्य काल में इसका ह्रास हो गया। अतएव समरांगण सूत्रधार के अतिरिक्त इसी के लेखक धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव के द्वारा ही विरचित कोदण्ड मण्डन इन दो ग्रन्थों को छोडकर अन्य ग्रन्थ एतद्विषयक प्राप्त नहीं हैं। अतएव यन्त्र विद्या तथा यन्त्र-विज्ञान को आधुनिक दृष्टि से हम पूरी तरह नहीं ला सकते। यही कारण है कि डा० राघवन ने Mechanical Contrivances इस शीर्षक से यन्त्रों की ओर गये। अन्यथा Science लिखना विशेष उपयुक्त था। समझने की बात है, विचारने की भी बात है कि कुतुब-मीनार के निकटस्थ

अशोक का लौह-स्तम्भ किस यन्त्र के द्वारा आरोपित किया गया था और कैसे बना था—केवल यही ऐतिहासिक निदर्शन हमारे लिये पर्याप्त है कि हमारे देश में यान्त्रिक एवं इञ्जीनियरिंग कौशल किसी देश से पीछे नहीं था। समरांगण-सूत्रधार (मूल ३१ ८७, परिमार्जित संस्करण ४६ ८७) का निम्न प्रवचन पढ़े —

पारम्पर्यं कौशलं सोपदेशं शास्त्राभ्यासो वास्तुकर्मोद्यमो धीः ।
सामग्रीयं निर्मला यस्य सोऽस्मिंश्चित्राण्येवं वेत्ति यन्त्राणि कर्तुम् ॥
यन्त्राणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात्
तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः ॥

अस्तु, इस उपोद्घात के बाद हम इस स्तम्भ में यन्त्र विज्ञान उसके गुण प्रकार एवं विधा को एक एक करके विचार करेंगे जिससे पाठक इस उपोद्घात का मूल्यांकन कर सकने में समर्थ हो सकेंगे। अनुवाद भी पढ़कर कुछ विशेष आश्चर्य का अनुभव कर सकेंगे कि हमारे देश में यह विज्ञान सर्वथा प्रवृद्ध था।

यन्त्र परिभाषा	देखिए अनुवाद
यन्त्र-बीज	देखिए अनुवाद
यन्त्र-प्रकार	देखिए अनुवाद
यन्त्र-गुण	देखिए अनुवाद

यहां पर अनुवाद-स्तम्भ की ओर तो ध्यान आकर्षित कर ही दिया परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि यन्त्र-परिभाषा एवं यन्त्र-बीज पर जो लिखा गया है वह कितना वैज्ञानिक है इस से अधिक और क्या वैज्ञानिक परिभाषा एवं वैज्ञानिक बीज (Elements) निर्धारित किये जा सकते हैं। प्रकारों पर जो प्रकाश डाला गया है—जैसे स्वयंवाहक (automatic) सकृत्प्रेर्य (Requiring propelling only once), अन्तरित बाह्य (operation of which is concealed, i e the principle of its action and its motor mechanism are hidden from public view) तथा अदूर-वाह्य (the apparatus of which is placed quite distant)—यह सब कितना वैज्ञानिक एवं विकसित सा प्रतीत होता है। साथ ही साथ शायद ही आज के युग में भी यन्त्र-गुणों की बीस प्रकल्पताओं पर जो प्रकाश इस ग्रन्थ में डाला गया है, वह सम्भवतः कहीं पर भी प्राप्य नहीं है। यन्त्र-गुणों की तालिका सुसम्बद्ध यहां पर अतएव अवतरणीय है —

१ यथावद्बीज-संयोग (Proper combination of Bijas in proportion),

२ सौश्लिष्ट्य Attribute of b.ing well-knit construction
३ श्लक्ष्णता Smoothness and fineness of appearance
४ अलक्ष्यता Invisibleness or inscrutability
५ निर्वहण Functional Efficiency
६ लघुत्व Lightness
७ शब्द हीनता Absence of noise where not so desired
८ शब्दाधिक्य Loud noise if the production aimed at, is sound
९ अशैथिल्य Absence of Looseness
१० अगाढता Absence of stiffness
११ सम्यक्-सञ्चरण Smooth and unhampered motion in all conveyances
१२ यथाभीष्टार्थकारित्व Fulfilling the desired end i e production of the intended effects (in cases where the ware is of the category of curos)
१३ लयताल-अनुगामित्व Following the beating of time the rhythmic attributes in motion (particularly in entertainment wares)
१४ इष्टकाल प्रदर्शित्व Going into action when required
१५ पुन सम्यक्त्व-संवृति Resumption on the still state when so required
१६ अनुल्वणत्व Beauty i e absence of an uncouth appearance
१७ ताद्रूप्य Versimilitude (in the case of bodies intended to represent birds and animals)
१८ दार्ढ्य Firmness
१९ मसृणता Softness
२० चिर-काल-महत्व Endurance

यन्त्र-कार्य —देखिए अनुवाद।

यन्त्र-क्रम मे जो गमन, सरण पात, पतन, काल शब्द, वादित्र आदि आ इस ग्रन्थ मे निर्दिष्ट किये गये हैं, उनमें आधुनिक नाना मशीनों जैसे घड़ियां, रेल मोटर रेडियो, वारि तथा विमान (aeroplane) सभी प्रकल्प्य प्रतीत होते हैं।

आधार-भौतिक क्रिया-कौशल की दृष्टि मे प्रथम नो क्रिया ही मौलिमालायमान एव मूर्धन्य है जिस से गमन, पतन, पात, सरण आदि निभ य है ।

जहा तक काल का प्रश्न है, उससे आधुनिक घडियो की ओर सकेत है— यह तो हम ऐतिहासिक दृष्टि से पुष्ट कर सकते है कि उस प्राचीन एव मध्यकालीन युग मे जल-घडिया तथा काष्ठ-घडिया तो विद्यमान थीं ही ।

जहा तक शब्द-विद्या का प्रश्न है वह आधुनिक वाद्य-यन्त्र की ओर सकेत कर रही है, क्योकि वादित्र —गीत, वाद्य एव नृत्य के साथ जो अन्य नाना बाजा जमे पटह मुरज वश वीणा कारयनाल तमिला करनाल और नाटक, ताण्डव, लास्य, राजमार्ग देशी आदि नत्या एव नाट्या की ओर जो सकेत है वे क्या तत्कालीन आधुनिक रेडियो की ओर सकेत अथवा मूल भित्ति (Foundation) की ओर हमे नही ले जा सकते अन्यथा यन्त्रो के द्वारा इनकी निष्पत्ति, प्रादुर्भाव या आविर्भाव की ओर व्याख्यान करन का क्या अभिप्राय है ?

यन्त्र-कर्मों म उच्छ्राय-पात सम-पात समोच्छ्राय एव अनेक उच्छ्राय-प्रकारो पर जो प्रकाश इस ग्रन्थ-रत्न मे प्राप्त होता है उससे महावैज्ञानिक वारि-यन्त्रा तथा धारा-यन्त्रो की पूरी पूरी पुष्टि प्राप्त होती है ।

इसी प्रकार नाना-विध यन्त्रा के कर्मों पर भी प्रकाश डाला गया है—जैसे रूप, स्पश तथा दोला एव क्रीडाये एव कौतुक एव आमोद । सेवा (Service) रक्षा (defence) आदि काय भी इन्ही यन्त्रो के द्वारा उल्लेख दिये गये है । यह आगे के स्तम्भ यन्त्र-प्रकार से स्वत परिपुष्ट हो जाता है ।

यान-मातका की परिभाषा की हमने जो वैज्ञानिक व्याख्या सव प्रथम इस भारत-भारती (Indology) मे पाठका के सामन रक्खी ह उसी के अनुसार यह समरागण–सूत्रधार भी उसी ओर हम ले जा रहा है । समरागण सूत्रधार के इस यन्त्राध्याय म जो नाना यन्त्र वर्णित किये गये है उनको हमने निम्न षड विधा मे वर्गीकृत किया है —

१ **आमोद-यन्त्र** —इस वग मे

(i) भूमिका शय्या प्रसपण

(ii) क्षीराब्धि-शय्या

(iii) पुत्रिका नाडी प्रबोधन

(iv) नालिका प्रबोधन-यन्त्र

(v) गाल भ्रमण-यन्त्र Chronometre-like-object
(vi) नर्तकी-पुत्रिका Dancing Doll
(vii) हस्ति-यन्त्र
(viii) शुक-यन्त्र

२ सेवा एव रक्षा-यन्त्र —
(i) सेवक-यन्त्र
(ii) सेविका-यन्त्र
(iii) द्वार-पाल-यन्त्र
(iv) योध-यन्त्र
(v) सिंहनाद-यन्त्र

३ सग्राम के यन्त्र —इन क केवल सकेत हैं परन्तु घटना पर प्रकाश नही डाला गया है । इनमे चाप, शतघ्नी, उष्ट्र-ग्रीवा आदि सग्राम-यन्त्र ही सूचित हैं।

४ यान-यन्त्र —अम्बरचारि-विमान-यन्त्र को हम अन्त म परिपुष्ट करेंगे ।

५ वारि-यन्त्र —इसम जसा पीछे सकेत किया जा चुका है उसकी चतुर्धा कोटि है —
(i) पात-यन्त्र
(ii) उच्छ्राय-यन्त्र
(iii) पात समोच्छ्राय-यन्त्र
(vi) उच्छ्राय यन्त्र

इन चारो का मौलिक उद्देश्य द्विविध है -

एक तो क्रीडार्थ दूसरा काय-सिद्धचय । दूसरी कोटि पात यन्त्र की प्रतीक है और पहली कोटि दूसरी, तीसरी, चौथी से उदाहृत एव समर्थित है । इन चारो विधाओं की विशेषता यह है कि पहले से अर्थात् पात यन्त्र से ऊपर एकत्रित किए गए जलाशय से नीचे की ओर पानी छोडा जाता है । दूसरा यथानाम (उच्छ्राय-समपातयन्त्र) जहा पर जल और जलाशय दोनो एक ही स्तर पर रखकर जल छोडे जाते हैं । तीसरी विधा पात समोच्छ्राय-यन्त्र का वैशिष्टच यह है कि इसमे एक बडी मनोरञ्जक तथा उपादेय प्रक्रिया तथा पद्धति का आलम्बन किया जाता है जो गडे हुए खम्भो (Bored Columns) के द्वारा ऊँचे स्तर से नीचे की ओर पानी इन्ही खम्भा के द्वारा लाया जाता है जो हम आधुनिक टक्यिो मे भी वसा ही देखत हैं । चौथी विधा को हम आधुनिक Boring के रूप मे विभाजित कर सकते हैं ।

समरागणके इस यन्त्राध्याय मे इन चारो वारि-यन्त्रो के अतिरिक्त और भी वारि-यन्त्र सकेतित किए गए हैं जैसे दारुमय-हस्ति-यन्त्र जिसमे कितना वह पानी पी रहा है कितना छोड रहा है—यह दिखाई नही पडता। उसी प्रकार फौहारो underground conduit) का भी इन विवरणो से ऐसे निदर्शन प्राप्त होते हैं। भारत की विख्यात नगरी चडीगढ के समीप एक अति प्रख्यात तथा अत्यन्त अनुपम जो मुगल-कालीन विलास-भवन पिञ्जौर उद्यान के नाम से यहा पर पर्यटको का आकर्षक केन्द्र है, वहा पर इस प्रकार के वारि एव धारा यन्त्रो की सुषुमा देखें तो हमारे प्राचीन स्थापत्य-कौशल का पूर्ण परिपाक इस निदर्शना से भी पूर्ण प्रत्यक्ष दिखाई पडता है।

६ धारा-यन्त्र—हम वारि-यन्त्रो के साथ इन धारा-यन्त्रो को नहीं लाए। धारा गृह स० सू० के इस यन्त्राध्याय मे बडे ही विवरणो एव प्रकारो म प्रतिपादित हैं। वे विवरण इतने मनोरजक, पारिभाषिक तथा प्रचुल हैं जिनको हम पूर्ण स्थापत्य का विलास मानते हैं। स्थपति की चार श्रेणीया है -

१ स्थपति २ सूत्रग्राही

३ वद्ध कि तथा ४ तक्षक

धारा-यन्त्रो के निर्माण मे इन चारो का कौशल एव विलास दिखाई पडता है। धारा गृहा क निम्न पाच वर्ग प्रतिपादित किए गए है —

१ धारा गृह
२ प्रवर्षण
३ प्रणाल
४ जलमग्न
५ नद्यावर्त।

धारा-गृह—एक प्रकार से उद्यान क Shower Bower के रूप मे विभावित कर सकते है। इस प्रकार का धारा-गृह मध्यकालीन युग मे सभी राज-भवनो—आवास-भवनो एव विलास-भवनो के अनिवार्य अग थे। यह धारा-गृह पौर्वात्य एव पाश्चात्य दोनो सस्कृतियो के प्रोल्लास माने गए हैं। जिस प्रकार वितान-वास्तु (Dome Architecture) को जो नवीन दृष्टि से समीक्षा की है और यह धारणा कि यह वास्तु-तत्त्व फार्स की देन है, वह कितनी भ्रामक धारणा है उसको स० सू० के वितान और लुमा वास्तु-शिल्प के द्वारा जो निराकरण किया वह पीछे द्रष्टव्य है, उसी प्रकार जिन विद्वानों की यह धारणा है कि ऐसे धारा-गृहों का मुगलो ने यहा पर श्रीगणेश किया था, वह भी अत्यन्त

भात है। यह ग्रन्थ ग्यारहवीं शताब्दी का अधिकृत ग्रन्थ है, जिसमे धारा गृहो क नाना प्रकार एव स्थापत्य-कौशल के जो प्रचुर प्रमाण मिलते हैं उससे यह धारणा अपने आप निराकृत हो सकती है। मध्यकालीन स्मारको म कोई भी ऐसा धारा-यन्त्र इस देश म नही प्राप्त होता है जो मुगलो से पूव बना हो। अस्तु तथापि सस्कृत क विभिन्न प्राचीन काव्यो को देखें—कालिदास, भारवि, माघ सोमदेव-सूरि, जिनके काव्यो मे इन धारा-यन्त्रो के बडे आकपक और महत्वपूण सदभ प्राप्त होते हैं। कालिदास के मेघदूत की निम्न पक्ति पढ़ें –

'नेष्यन्ति त्वा सुरयुवतयो यत्रधारागृहत्वम्'

सोमदेव-सूरि के टीकाकार इन धारा-गृहो मे जो हमने एक प्रवषण की विधा दी है, इसको कृत्रिम-मेघमन्दिरम्" नाम से प्रकीर्तित किया है। इस ग्रन्थ मे भी इस विधा को "अनुरक्तणमक जलमुचाम" क नाम से स्वय प्रतिपादित किया है। धारा गृह को हम उद्यान की शोभा के रूप म पहले ही कीर्तित कर चुके हैं। प्रवपण पर भी थोडा सा सकेत ऊपर कर चुके हैं। तीसरा प्रकार प्रणाल के नाम से विश्रुत है जो एक दुतल्ला धारा गृह बनाया जाता है, जिसम एक अथवा चार अथवा आठ अथवा सोलह खम्भ बनाए जाते हैं तो पुष्पक-विमान के रूप म निर्मित होता है। इस धारा-गृह क केन्द्र मे जलाशय का निमाण होना है, जिसम एक पद्माकृति पीठ बनाया जाता है। वही पर राजा के बैठने की जगह बनाई जाती है और चारो ओर सुन्दर युवतियो की प्रतिमाए बनाई जाती है, जिनकी आखें इस पद्म को देखती हुई दिखाई जाती हैं। ज्यो ही ऊपर का जलाशय पानी स भर दिया जाता है और बन्द कर दिया जाता है त्यो ही इन प्रतिमा-चित्रो स पानी निकलने लगता है और एक महान मनमोहक वातावरण उत्पन्न होता है और इस प्रकार से वहा पर राजा बैठा हुआ जल से भीगता हुआ आनन्द लेता है।

जलमग्न यथानाम जलाशय के भीतर वरुण अथवा नागराज के प्रासाद के समान यह प्रासाद विभाव्य है। यह एक प्रकार का अन्तपुर है। यहा पर केवल थोडे से ही प्रधान पुरुष जैसे राजकुमार, राजदूत यहा पर आ सकते हैं। पाचवी कोटि नन्द्यावत की है जिसके निर्माण मे स्थापत्य एव चित्र-कौशल भी अनिवाय हैं, क्योकि यह धारा गृह नन्द्यावत स्वस्तिक आदि विच्छित्तियो से अलङ्कृत होना-आवश्यक है। यह आख-मिचौनी के लिए बडा उपादेय माना

क्षय वृद्धि है। बिना इस क्षय-वृद्धि-प्रक्रिया के वर्ण विन्यास वर्णोज्ज्वलता एवं वार्णिक वैशिष्ट्य सम्पन्न नहीं होता। चित्र-कौशल में शास्त्र ने जो प्रतीकात्मक रूढ़ियां (Conventions) प्रदान की हैं उनके बिना चित्र दर्शन मात्र से उसकी पूर्ण पहिचान और उसकी व्याख्या तथा पूरी समझ असम्भव है। अपराजित-पृच्छा में चित्र के सद्भाव का इतना व्यापक दृष्टिकोण प्रकट किया गया है जिसमें स्थावर और जंगम सभी पदार्थ सम्मिलित हैं तो इनके रूप उनके कार्य, उनकी चेष्टाएं तथा उनकी क्रियाएं अथवा उनका प्राकृतिक सौन्दर्य एवं याथातथ्य चित्रण कैसे सम्भव हो सकता है जब तक हम इन रूढ़ियों (Conventions) का सहारा न लें। चित्र कौशल का अन्तिम प्रकर्ष भावाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति है। चित्र-शास्त्र के जितने भी ग्रन्थ प्राप्य हैं उनमें एकमात्र समरांगण-सूत्रधार ही है जिसमें चित्र के रसों एवं चित्र की दृष्टियों का वर्णन किया गया है। धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव से बढ़कर हमारे देश में इतना उद्भट और प्रसिद्ध-कीर्ति शृंगारिक अर्थात् काव्य-तत्व-वेत्ता (Aesthetician) नहीं हुआ है। जहां उसने शृंगार-प्रकाश की रचना की वहां उसने वास्तु के ऐसे अप्रतिम ग्रन्थ समरांगण सूत्रधार की भी रचना की। इस महायशस्वी लेखक ने चित्र को भी काव्य की गोद में खेलता हुआ प्रदर्शित कर दिया। इस प्रकार से इस दृष्टि में यह ग्रन्थ विष्णु धर्मोत्तर से भी आगे बढ़ गया और बाजी मार ले गया। विष्णु महापुराण के परिशिष्टांश विष्णुधर्मोत्तर के चित्र सूत्र को देखें तथा परिशीलन करें तो वहां पर यह पूर्ण रूप से प्रकट है कि बिना नृत्य के चित्र दुर्लभ है —

> विना तु नृत्य-शास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्।
> यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता॥
> दृष्टयश्च तथा भावा अङ्गोपाङ्गानि सर्वशः।
> कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम॥
> त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्रं परं मतम्॥

यद्यपि इस अवतरण में नाट्य-हस्त, नृत्य-हस्तों के साथ दृष्टियों का भी संकेत अवश्य है परन्तु उसमें प्रतिपादन नहीं। अतः इस कमी को समरांगण सूत्रधार ने पूर्ण कर दी। इस ग्रन्थ में चित्र के ग्यारह रस और अठारह रस-दृष्टियां प्रतिपादित की गयी हैं जिनकी हम आगे व्याख्या करेंगे। हमने अपने चित्र-लक्षण में चित्रकला को नाट्य और काव्य से और ऊपर उठाकर रस-सिद्धान्त एवं ध्वनि-सिद्धान्त में लाकर परिणत कर दिया है। मम्मट ने अपने

काव्य-प्रकाश में काव्य की त्रिविधा से जो चित्र-काव्य को तीसरी कोटि दी गयी है, उसका आशय एक मात्र व्यंग्याभाव एवं शब्द-चित्रता तथा अर्थ-चित्रता से ही तात्पर्य नहीं है, उसमें इस शब्द के प्रयोग में एक बड़ा भ्रम भी छिपा है। मेरी दृष्टि में जिस प्रकार काव्य में शब्दों एवं अर्थों के द्वारा व्यंग्य की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि व्यंजना के लिए व्यंजक की आवश्यकता है तो क्या व्यंजक व्यंग्य की ओर सहृदयों को नहीं ले जा सकते। जिस प्रकार कोई युवती अतिरमणीय होते हुए यदि वह नाना शृंगारों से सुसज्जित, नाना विलासों से मण्डित अनेक नेपथ्यों में विलसित क्या वह कई व्यंग्यों की ओर इशारा नहीं कर सकती? किसी कुशल चित्रकार के चित्र को देखें, उसमें कितने व्यंग्य छिपे हैं जो एकमात्र वर्णों एवं आकारों तथा कुछ बन्धनों (Back grounds) के साथ साथ अन्य नाना कितने आकृत अपने आप आपतित हो जाते हैं।

अस्तु, अब इस उपोद्घात के अनन्तर हम अपने इस अध्ययन में अध्ययन की रूपरेखा की कुछ अवतारणा अवश्य करनी है जो निम्न तालिका में द्रष्टव्य है —

१ चित्र शास्त्रीय ग्रन्थ,
२ चित्र-कला का ललित कलाओं में स्थान, उद्देश्य, जन्म और विस्तार,
३ चित्रांग (Elements-Constituents and Types),
४ वर्तिका तथा भूमि व घन,
५ अण्डक-प्रमाण,
६ लेप्य-कर्म,
७ आलेख्य—कर्म-वर्ण एवं रूपक, कान्ति एवं विच्छित्ति तथा क्षय-वृद्धि सिद्धांत,
८ आलेख्य-रूढ़ियां (Conventions),
९ चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य कला, नृत्य-कला तथा भावाभिव्यक्ति—ध्वनि एवं रसास्वाद,
१० चित्र-शैलियां पत्र एवं कण्टक,
११ चित्रकार,
१२ चित्रकला पर ऐतिहासिक विहंगम दृष्टि —
(अ) पुरातत्वीय,
(ब) साहित्य-निबन्धनीय।

चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ —सस्कृत में केवल चित्र पर निम्नलिखित पाच ग्रन्थ ही प्राप्य हैं —

१ विष्णुधर्मोतर—तृतीय भाग-चित्रसूत्र ,
२ समरागण-सूत्रधार—देखिए इस अध्ययन में चित्र-शास्त्रीय अध्याय-तालिका
३ अपराजित-पृच्छा ,
४ अभिलषितार्थ चिन्तामणि (मानसोल्लास) ,
५ शिल्प-रत्न ।

इन ग्रन्थो (पूर्व एव उत्तर मध्यकालीन कृतियो) के अतिरिक्त सर्वप्राचीन-कृति नग्नजित् का चित्र लक्षण है । नग्न-जित के सम्बन्ध मे ब्राह्मणो (ब्राह्मण-ग्रन्था)मे भी सकेत मिलत हैं । यह मौलिक कृति अप्राप्य है । सौभाग्य स तिब्बती भाषा मे इसका अनुवाद हुआ था जिसका रूपान्तर अब भी प्राप्य है। डा० राघवन ने (देखिए Some Sanskrit texts on Painting I H O Vol X 1933) जिन दो अन्य चित्र सम्बन्धी शिल्प-ग्रन्थो की सूचना दी है, वे हैं

१ सारस्वत-चित्र-कर्म-शास्त्र
२ नारद-शिल्प ।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त वासवराज-कृत शिवतत्व-रत्नाकर नामक ग्रन्थ सत्रहवी शताब्दी के उत्तर अथवा अठारहवी शताब्दी के पूर्व भाग म कन्नड भाषा से सस्कृत मे रूपान्तरित किया गया था । शिवराम मूर्ति ने भी चित्र शास्त्रीय कृतियो के सम्बन्ध मे खोज की है । परन्तु मेरी दृष्टि मे ये ही सात ग्रन्थ अधिकृत माने जा सकते हैं ।

जहा तक चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो के अध्ययन का प्रश्न है उनका सर्वप्रथम श्रेय डा० कुमारी स्टला क्रेमरिश को है जिन्होंने विष्णु-धर्मोत्तर के इस चित्र सूत्र का अंग्रेजी म अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी । उसके बाद आधुनिक भारतीय विद्या (Indology) म सर्व प्रथम सारे ग्रन्थो को लेकर अनुसन्धानात्मक एव शास्त्रीय अध्ययन जो मैंने अपने Hindu Canons of Painting or चित्रलक्षणम् १९५८ मे प्रस्तुत किया था उसकी विद्वानो ने बडी प्रशसा की । यह प्रबन्ध मेरी डी० लिट० थीसिस—Foundations and Canons of Hindu Iconography and Painting का अग था । महामहोपाध्याय डा० वासुदेव विष्णु मिराशी, डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा स्वर्गीय वासुदेव शरण अग्रवाल,

इन विद्वानों की भरि प्रशसा मे मुझे बड़ा प्रो साहन मिला । यह ग्रन्थ अग्रजी म लिखा गया था । वसे तो हिन्दी मे मैंने प्रतिमा विज्ञान Iconography पर एक बृहद् ग्रन्थ लिख ही चुका हूँ जो मेरे इस दश-ग्रन्थ आयोजन का वह प्रमुख अंग था । चित्र पर अभी तक हिन्दी म शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ । अत अब मैं अपने इस ग्रन्थ मे प्रतिपादित शास्त्रीय विवेचन का जहा तक समरागण-सूत्रधार के चित्र-सम्बन्धी विषयो से मेल खाता है, उसी को लेकर मैं अब इस अध्ययन म सक्षेप रूप मे नवीन दृष्टिकोण से रखने का प्रयास करूगा ।

हमने चित्र-शास्त्रीय प्राप्य ग्रन्थो पर पहले ही सकेत कर दिया है । उनके विषय-विवेचन अथवा उनके अध्यायो की अवतारणा की यहा पर सगति सार्थक नहीं । अत समरागण के चित्र-सम्बन्धी अध्याया के सम्बन्ध म थोड़ा सा विवेचन आवश्यक है ।

इसम सन्देह नहीं कि समरागण सूत्रधार का भवन-खड, प्रासाद-खड राज-भवन-खड ये सभी खड सम्बद्ध एव परिपुष्ट हैं परन्तु चित्र खण्ड गलित तथा भ्रष्ट भी है । च कि चित्र का अर्थ हमने प्रतिमा माना है और प्रतिमाए जो पाषाणी हैं अथवा धातुजा हैं, व इस सन्दर्भ म अविवेच्य नहीं हैं । चित्र पर (मृन्मयी, काष्ठमयी पाषाणी, धातुजा रत्नजा तथा आलेख्य) केवल १४ अध्याय हैं, जिसम केवल एक ही अध्याय आलेख्य चित्र म परिगणनीय नहीं है वह है —

लिंग-पीठ प्रतिमा लक्षण

अत इसको हम प्रासाद-शिल्प म प्रासाद प्रतिमा के रूप म व्यवस्थापित करेंगे । इन अध्याया की तालिका की ओर सकेत करने के पूर्व हमे यह भी बताना है कि लगभग निम्नलिखित सात अ याय, अ लेख्य-चित्र तथा पाषाणादि-द्रव्यजा चित्र इन दोनो के सब सामा य (Common and Complimentary) अङ्ग हैं —

१ देवादि-रूप-प्रहरण-सयोग-लक्षण ,
२ दोष-गुण-निरूपण ,
३ ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण ,
४ वैष्णवादि-स्थानक-लक्षण,
५ ...

गया है। इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त हमारा यह संकेत है कि पाठक इस ग्रन्थ में अनुवाद-स्तम्भ का ध्यान से पढ़ें तो इस कारीगरी और स्थापत्य-कौशल का कितना महत्वपूर्ण मूल्यांकन प्राप्त हो सकेगा।

*७ दोला-यन्त्र—इसको रथ-दोला भी कहते हैं। धारा-गृह के समान इसके भी पाँच निम्न प्रकार वर्णित किये गए हैं —

१ बसन्त २ मदनोत्सव ३ वसन्त तिलक ४ विभ्रमक तथा ५ त्रिपुर।

जहाँ कहीं भी हमारे देश में मेले होते हैं वहाँ पर झूले अवश्य गाड़े जाते हैं और बच्चे उन पर चढ़कर प्रसन्न होते हैं घूमते हैं और घुमाए जाते हैं। लेकिन ये झूले स्थापत्य-कौशल की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं रखते। स० सू० के इस यन्त्राध्याय में दोला यन्त्रों के जो विवरण प्राप्त होते हैं उनसे प्रकट है कि वे साधारण यन्त्र हैं जिन में यन्त्र ही उनको चलाते हैं। जो रूप झूलों के हम आज देखते हैं वे अति सामान्य हैं। अनुवाद को यदि आप देखें तो कोई दोला जैसे बसन्त-तिलक वह द्विभौमिक है और त्रिपुर तो ऐसा आभास प्रदान करेगा मानो तीन नगरियाँ दिखाई पड़ रही हैं। इन सब के विवरण अनुवाद में ही द्रष्टव्य हैं। हमने अपने Vastusastra—Vol I Hindu Science of Architecture with special reference to Bhoja's Samrangana Sutradhara में इस की जो विशेष समीक्षा की है और वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन किया है, वह इस ग्रन्थ में विशेष द्रष्टव्य है।

विमान-यन्त्र —अब आइये यान-यन्त्र पर। हमें उस पर विशेष रूप से चिन्तन करना है यान-यन्त्र की जो श्रेणी हमने चौथी दी थी उसको यहाँ पर अन्तिम विधा में विवरण माना है। इस यन्त्राध्याय में यान यन्त्र अथवा विमान-यन्त्र पर जो प्रतिपादन है वह इस यन्त्र की सब से बड़ी विभूति है जिसका अन्य शिल्प-ग्रन्थ में कोई भी विवरण नहीं है। कालिदास से लगाकर आगे के नाना ग्रन्थों—काव्यों, नाटकों आदि में यद्यपि सर्वत्र ही संकेत प्राप्त हैं परन्तु रचना-विधि अन्यत्र अप्राप्य है। साहित्यिक सन्दर्भों की जितनी महत्ता है उतनी महत्ता जन-श्रुतियों की भी मानी जा सकती है। बहुत दिनों तक मध्य भारत के गाँव-गाँव में यह जन-श्रुति थी कि महाराजाधिराज धाराधिप भोजदेव के दरबार में गरुड़मुखी नाम का एक विमान था तो विमान-रचना भी इस काल में अवश्य परन्तु तो फिर विमान यन्त्र की रचना में जो पूरे के पूरे विवरण हैं उनमें

*७ यद्यपि हमने यन्त्रों की षड्-विधा ही दी है परन्तु रक्षा और संग्राम विधा हैं) इन दो विधाओं के विवरण की दृष्टि से सप्तधा कर दी है।

केवल दो ही तत्व प्राप्त होने है अर्थात अग्नि और पारा तथा आकार और सभार भी। निम्नलिखित उद्धरण पढिए —

> लघुदारुमय महाविहग दृढसुश्लिष्टतनु विधाय तस्य ।
> उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चाग्निपूर्णम् ॥
> तत्रारूढ पूरषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालितप्रोज्झितनानिलेन ।
> सुप्तस्यान्त पारदस्यास्य शक्तया चित्र कुर्वन्नम्बरे याति दूरम् ॥
> इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्य सञ्चलत्यलघु दारुविमानम् ।
> आदधीत विधिना चतुरोऽन्तरस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥
> अथ कपालाहितमन्दवह्निप्रतप्ततत्कुम्भभुवा गुणेन ।
> व्योम्नो झटित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगजद्रसराजशक्त्या ॥

जैसा हमने ऊपर सकेत किया कि इस विमान-यन्त्र-वर्णन मे सारे विवरण प्राप्त नही होते, तथापि रचना प्रक्रिया अज्ञात नही थी, चू कि यह काल सामन्त वादी (Aristocratic Age) था, अत प्राकृत जनो के लिए यह भोग और विलास नही प्रदान किए गए। अतएव इनका एक मात्र राज-भोग म ही गताथ किया गया। अत इन विद्याओ एव कलाओ का सरक्षण एक-मात्र राजाश्रय ही था। अत शास्त्रीय ढग से जब इनकी व्याख्या अथवा प्रतिपादन आवश्यक था तो ग्रन्थ-कार ने इसी मूलभूत प्रेरणा के कारण बहाना लिया जो निम्न श्लोक को पढने से प्राप्त होता है —

> 'यन्त्राणा घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात ।
> तत्र हेतुरय ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदा ॥

यह हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि पारम्पर्य कौशल सोपदेश शास्त्राभ्यास वास्तुकर्मोद्यमा बुद्धि—यह सभी इस प्रकार की यान्त्रिक घटना और पारिभाषिक ज्ञान के लिए अनिवाय अग हैं तथापि यह बहाना भी तार्किक नही है। तथ्य यह है कि प्राचीन वाङ्मय के रहस्य की कुजी रहस्य गोपन है। अत म इस यन्त्राध्याय की समीक्षा म यह अवश्य हमे स्वीकार करना है कि हमारे देश मे यन्त्र-विद्या की कमी नही थी।

भारत की प्राचीन सस्कृति मे मन्त्र, तन्त्र और यन्त्र तीनो ही अपनी अपनी दिशा मे विकास एव प्रोल्लास की ओर जाते रहे, परन्तु जिस प्रकार वदिक युग मे मन्त्रो का प्राबल्य था फिर कालान्तर म विशष कर मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल मे तन्त्रो का इतना प्राबल्य हुआ कि यन्त्रो के भौतिक विकास को

प्रश्रय न लेकर एक-मात्र इनको चित्र मे चित्रित कर दिया। अतएव तान्त्रिक लोगो ने मन्त्र-बीज, तन्त्र-बीज, यन्त्र-बीज—इन्ही उपकरणो से एव उपलक्षणों से भौतिक यन्त्रो को एक मात्र नाम-मात्र की अभिधा मे गतार्थ कर दिया।

बात यह है कि समराङ्गण-सूत्रधार के यन्त्राध्याय के प्रथम श्लोक (मगलाचरण) को पढे साथ ही साथ गीता के श्लोक को भी पढे जो नीचे उद्धृत किए जाते हैं तो हमारे इस उपयुक्त मत का अपने आप पोषण हो जाता है। अर्थात् यन्त्रो को अध्यात्म-विभूति म पर्यवसित कर दिया अन्यथा हमारा देश इस यान्त्रिक विज्ञान से पीछे न रहता —

जडाना स्पन्दने हेतु तथा चेतनमक्रमम् ।
इन्द्रियाणामिवात्मानमधिष्ठातृतया स्थितम् ॥
भ्राम्यद्दिनेशशशिमण्डलचक्रशस्तमेतज्जगत्त्रितययन्त्रमलक्ष्यमध्यम् ।
भूतानि बीजमखिलान्यपि सम्प्रकल्प्य य सततं भ्रमयति स्मरजित्सवोऽव्यात ॥
ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

राजसी कलायें

चित्र-कला

हमने अपने उपोदघात मे पहले ही यह सकेत कर दिया है कि चित्र का अर्थ एकमात्र आलेख्य नही, चित्र का अर्थ वास्तव मे प्रतिमा है, अतएव इस अध्ययन मे चित्र का हम निम्न दो दष्टि-कोणो से देखेंगे और साथ ही साथ दो वर्गों म विभाजित करेंगे। लौकिक दष्टि से आलेख्य चित्र का प्रथम उपन्यास करेंगे। पूर्वोक्त चित्र की विधा—कोटि को अब हम दो मे कवलित कर सकते है १ चित्राभास अर्थात आलेख्य, २ चित्रार्ध एव चित्र अर्थात् प्रतिमा भाशिक अथवा पूण।

सव-प्रथम आलेख्य चित्र पर जितने ग्रथ प्राप्त होते है, थोडा सा सकेत करना आवश्यक होगा पुन आलेख्य कला का ललित कलाओ म क्या स्थान है यह भी प्रतिपाद्य होगा। पुन चित्र-कला का जन्म कैसे हुआ और उसका विस्तार (क्षेत्र अथवा विषय) कैसा है—इस पर भी समीक्षण आवश्यक है। पुन चित्रकला के अगो (विभाग) तथा विधाओ (Types) का सविस्तार वणन करना होगा। शिल्प ग्रथो की दष्टि से वर्तिका-निर्माण, वर्तिका-वतन एव वर्ण-सयोग (colouring) तो चित्र विद्या के सबसे प्रमुख कौशल हैं। परन्तु इस कौशल को प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार दक्षता भी चित्र-विद्या का प्रमुख अग है। वास्तु, शिल्प, एव चित्र की दष्टि से नाप तीसरी प्रमुख विशेषता है। कोई भी शिल्प बिना नाप के कला के रूप मे नही परिणत की जा सकती। इस लिए चित्र के विभिन्न साधनो मे प्रमाण भी उतने ही प्रशस्त प्रकल्पित किए गए है। Pictorial Pottery और Pictorial Iconometry दोनो ही एक स्तर पर अपनी महत्ता रखते है। मध्यकालीन चित्रकार विशेषकर मुगलो के दरबार मे जो चित्रकार अपनी ख्याति से इतिहास मे आज भी विद्यमान है वे बिना अन्क-वतना (बादाम) के कोई चित्र नही बनाते थे। इस प्रकार विष्णुधर्मोत्तर समरागण-सूत्रधार तथा मानसोल्लास इन तीनो ग्रथो की दष्टि मे अडक वतना चित्र-कौशल मे बडा ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय चित्र-शास्त्र की दृष्टि मे सबसे बडा सूक्ष्मेक्षिका कौशल

५ पच-पुरुष-स्त्री-लक्षण,

६ रस-दृष्टि-लक्षण,

७ पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण,

जहा तक इन अध्यायो की विवेचना है, वह अनुवाद से स्वत प्रकट है, अत वही द्रष्टव्य हैं और यहा पर उनका विस्तार अनावश्यक है।

अस्तु, जो आलेख्य (Painting) से ही एक मात्र सम्बंधित हैं, उन अध्यायो की तालिका निम्न है —

चित्रोद्देश,
भूमि-बन्धन,
लेप्य-कर्म,
अण्डक-प्रमाण,
मानोत्पत्ति तथा
रस-दृष्टि

चित्रकला का उद्देश्य, उद्भव तथा विषय (Scope)

चित्र कला के उद्भव मे हमारे देश मे दो दृष्टि-कोणो ने इस ललित कला को जन्म दिया। वैसे तो कला सस्कृति एव सभ्यता का अभिन्न अग माना गया है। जिस देश की जैसी सभ्यता एव सस्कृति होगी वैसी ही उस देश की कलाए होगी। भारतीय सस्कृति और सभ्यता मे अध्यात्म और भौतिक अभ्युदय दोनो को ही माप-दण्ड के रूप मे परिकल्पित किया गया है। वैदिक इष्टि (यज्ञ-सस्था) के बाद जब पूत-धर्म (देवालय-निर्माण एव देव-पूजा) ने अपने महान प्रकर्ष से इस देश मे पूरी तरह से पैर फैला दिए, तो प्रतिमा-पूजा अनायास विकसित और प्रवृद्ध हो गई। हमने अपने उपोद्घात मे चित्र पद की परिभाषा मे प्रतिमा शब्द की ओर पूर्ण रूप से परिचय दे ही दिया है—चित्र, चित्रार्ध, चित्राभास। अत जहा पाषाण-निर्मिता तथा मृण्मयी (पार्थिवा जैसे पार्थिव लिंग) एव धातुजा प्रतिमाए पूजा के लिए बनाई जाती थी क्योकि ज्ञानी और योगी तो बिना प्रतिमा के भी ब्रह्म-चिन्तन एव ईश्वराराधन कर सकते थे, परन्तु महान् विशाल समाज सारा का सारा ज्ञानी और योगी नही परिकल्पित किया जा सकता, अतएव इसी दृष्टि को रखकर हमारे आचार्यों ने स्पष्ट उद्घोष किया —

"अज्ञाना भावनार्थाय प्रतिमा परिकल्पिता

"सगुण-ब्रह्म-विषयक-मानस व्यापार उपासनम"

"चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण ।
उपासकाना कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप-कल्पना ॥

"आदित्यमम्बिका विष्णु गणनाथ महेश्वरम ।
पच-यज्ञ-परो नित्य गृहस्थ पञ्च पूजयेत ॥'

जहा प्रासादो मे प्रतिष्ठापित प्रतिमाए पूज्य हैं, उसी प्रकार पट्ट, पट कुड्य चित्र भी उसी प्रकार पूज्य बने । हयशीर्ष-पचरात्र वैष्णव आगमो और तन्त्रो मे एक प्रमुख स्थान रखता है। उसका यह निम्न प्रवचन पढें तो उपरोक्त हमारा सिद्धान्त पूर्ण रूप से पुष्ट हो जाता है —

यावन्ति विष्णुरूपाणि सुरूपाणीह लेखयेत ।
तावद युगसहस्राणि विष्णुलोके महीयते ॥
लेप्ये चित्रे हरिर्नित्य सन्निधानमुपैति हि ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन लेप्यचित्रगत यजेत् ॥
कान्तिभूषणभावाद्यैश्चित्र यस्मात स्फुट स्थित ।
अत सन्निधिमायाति चित्रजासु जानदन ॥
तस्मच्चित्रार्चने पुण्य स्मृत शतगुण बुधै ।
चित्रस्थ पुण्डरीकाक्ष सविलास सविभ्रमम् ॥
दृष्टवा मुच्यते पापैर्जन्मकोटिसमुज्जितैं ।
तस्माच्छुभार्थिभिर्धीरै महापुण्यजिगीषया ॥
पटस्थ पूजनीयस्तु देवो नारायण प्रभु ।
—हयशीर्षपचरात्रात्—

लगभग दो हजार वर्षों की परम्परा है कि जो भी यात्री दर्शनार्थी, पुरी जगन्नाथ के दर्शनार्थ तीर्थ-यात्रा करता है वह भगवान जगन्नाथ के पटो को जरूर लाता है। आज भी ग्राम उत्तरापथ में प्रत्येक घर में स्त्रिया अपने पुत्रो के आयुष्य एव उनके कल्याण के लिए किसी न किसी दिन विशेष कर वासन्त मासों (चैत्र एव वैशाख) मे किसी न किसी चन्द्रवार के दिन पट पर भगवान जगन्नाथ की पूजा करती हैं नाना प्रकार के मिष्टान्नो से उनका भोग लगाती हैं एव वासन्त कुसुमो विशेषकर पलाश पुष्प (टेसू) अवश्य चढाती हैं। अत उपयुक्त यह हयशीर्ष-पचरात्रीय प्रवचन कितना अधिकृत एव अति प्राचीन परम्परा का प्रतिष्ठापक एव उद्बोधक है, वह अनायास सगत एव सुप्रतिष्ठित हो जाता है।

~

यह तो हुआ धार्मिक उदभव जहा तक भौतिक दृष्टि-कोण का सम्बन्ध है, उसमे वात्स्यायन के काम-सूत्र मे प्रतिपादित चतुष्पष्टि-कला (६४ कलाओ) का जो महान् प्रोल्लास प्राप्त होता है, उसका पूरा का पूरा सम्बन्ध नागरिक सभ्यता नागरिको के जीवन के अभिन्न अग की प्रतीकात्मता को दृढ करता है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि दो हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी बात है कि प्रत्येक नागरिक के घर मे रग का प्याला और रगने की लेखा (bowl and brush) दोनो गृहस्थी के अनिवार्य अग थे। आप महाकवि कालिदास के काव्यो को पढे महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी देखें—कितना चित्र-कला का विलास था। हमने अपने अग्रेजी ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) मे यह सब पूरी तरह से समीक्षा प्रदान की है। वह वहा विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

चित्र-कला के उदभव मे चित्र-शास्त्र की सवप्रथम कृति एव अतिप्राचीन अधिवृत ग्रन्थ नग्न-जित के चित्र-लक्षण' मे जो चित्रोत्पत्ति की मनोरञ्जक कहानी है वह यहा अवतार्य है —

'पुरानी कहानी है कि एक बडा ही उदार धर्मात्मा तथा प्रतापी राजा था, जिसका नाम था भयजित्। सभी प्रजाए सानन्द थी। अकस्मात एक दिन एक ब्राह्मण उसके दरबार मे आ पहुचा और जोर से चिल्लाता हुआ बोला ऐ राजन्, सत्यत आपके राज्य मे पाप है, नही तो मेरा पुत्र अकाल-मृत्यु के गाल मे कैसे कवलित हो गया? कृपा करके मेरे पुत्र को मृत्यु के पजा से छुडाओ और उस लोक मे पुन इसी लोक मे लाओ। राजा ने तत्क्षण ही यमराज से प्रार्थना की—हे यमराज जी महाराज! इस बालक को लाओ अन्यथा घोर युद्ध होगा। यमराज ने जब प्रार्थना अनसुनी कर दी तो फिर दोनो मे घनघोर युद्ध हो गया और अन्ततोगत्वा यम हार गया। विधाता ब्रह्मा किंकर्तव्य-विमूढ हो गये। तत्क्षण वे वहा आविर्भूत हो गये और राजा से कहा राजन! जीवन एव मरण तो कर्म पर आश्रित हैं। यम का अपना व्यक्तिगत तो कोई हाथ नही। तुम इस बच्चे का चित्र बनाओ। ब्रह्मा की आज्ञा शिरोधार्य कर उसने चित्र बनाया और ब्रह्मा ने उसमे जीवन डाल दिया और राजा को सम्बोधित कर कहा —

"चूँकि तुमने इन नग्नो—प्रेतो को भी जीत लिया—अत तुम आज से हे राजन्! नग्न-जित् के नाम से विश्रुत हो गये। तुम इस ब्राह्मण बालक का चित्र मेरी ही कृपा या आशीष से बना सके हो। ससार मे यह प्रथम चित्र है। तुम जाओ दिव्य शिल्पी विश्वकर्मा के पास। विश्वकर्मा जी वास्तु-शिल्प-चित्र के

माचार्य हैं, वे तुम को सारा चित्र-शास्त्र एव चित्र-विद्या पढायेंगे।'

विष्णु-धर्मोत्तर प्रति प्राचीन एव अधिकृत ग्रन्थ है उसका भी यहा चित्रोत्पत्ति वृतान्त उद्धरणीय है —

नर-नारायण की कथा से हम परिचित ही हैं। जब भगवान नारायण बदरिकाश्रम मे मुनिवेष-धारी तपश्चर्या करने लगे तो उन्हें हठात् चित्र विद्या को जन्म देना पडा। कहानी है कि नर एव नारायण दोनो ही इसी आश्रम मे साथ साथ तपस्या कर रहे थे। अप्सराओ की अति प्राचीन समय से यह परम्परा रही है कि जब कोई मुनि या योगी तप करते हैं तो वे आकर बाधा डालती हैं रिझाती हैं। विश्वामित्र-मेनका की कहानी से सभी परिचित हैं। ऐसी बाधा मे भगवान् नारायण ने कमाल कर दिया। तुरन्त ही आम्र-रस लेकर तथा अन्य वन्य-औषधियो को मिलाकर एक इतनी कमाल की खूबसूरत अप्सरा की रचना कर दी जो कोई भी देवी, गान्धर्वी, आसुरी, नागी या मानवी सुन्दरी उसका मुकाबला कर सके। अत ये सारी की सारी दसो अप्सरायें इस नारायण-निर्मिता सुन्दरी अप्सरा को देख कर शर्मिन्दा हो कर सदा के लिये विलीन हो गयीं। यही अप्सरा पुन सर्व-सुन्दरी अप्सरा ऊर्वसी के नाम से विश्रुत हो गयी।

विष्णु-धर्मोत्तर के एक दूसरे सन्दर्भ को पढें, तो वहा पर शास्त्रीय उद्भव पर बडा मार्मिक एवं प्रबल प्रवचन प्राप्त होता है। मार्कण्डेय और वज्र के प्रश्न और उत्तर के रूप मे विष्णु-धर्मोत्तर मे चित्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे बडा ही मौलिक एव सार्वभौमिक उद्देश्य एव क्षेत्र की ओर सुन्दर एव महत्त्वपूर्ण संकेत प्राप्त होता है। विष्णु-धर्मोत्तर मे निराकार की कल्पना एव उसकी साकार रूप मे पूजा बिना चित्र के असम्भव है। निराकार यथा-निरुक्त न कोई रूप रखता है न गन्ध न स्पर्श, न शब्द, न स्पर्श, तो फिर इसको रूप मे कैसे परिणित किया जा सकता है—वज्र की इस जिज्ञासा मे मार्कण्डेय का उत्तर है कि प्रकृति और विकृति वास्तव मे परब्रह्म की लौकिक दृष्टि से दोनो भिन्न होते हुए भी उसी के परिवर्तन-शील रूप हैं। ब्रह्म प्रकृति है और विश्व विकृति है। ब्रह्म की उपासना तभी सम्भव है जब उसे रूप प्रदान किया जाए। अतएव उसकी रूप कल्पना के लिये चित्र के बिना यह सम्भव नही। जैसा कि हमने पहले ही रामोपनिषद का प्रवचन पाठकों के सामने रख दिया है (चिन्मयस्येत्यादि)।

मध्यकालीन अधिकृत शिल्प-शास्त्रीय कृति अपराजित-पृच्छा मे चित्र के उद्देश्य, उत्पत्ति एव क्षेत्र अथवा विस्तार पर जो प्रवचन है वह बडा ही मार्मिक

है और समस्त स्थावर एव जगम को चित्र की कोटि मे केलि करा रहा है। निम्न अवतरण पढिये —

चित्रमूलोद्भव सर्वं त्रैलोक्य सचराचरम्।
ब्रह्मविष्णुभवाद्याश्च सुरासुरनरोरगा ॥
स्थावर जगम चैव सूयचन्द्रौ च मेदिनी।
चित्रमूलोद्भव सर्वं जगत्स्थावरजगमम् ॥
वृक्षगुल्मलतावल्ल्य स्वेदजाण्डजरायुजा।
सर्वे चित्रोद्भवा वत्स भूधरा द्वीपसागरा ॥
चतुरशीतिलक्षाणि जीवयोनिरनेकधा।
चित्रमूलोद्भवा सर्वे ससारद्वीपसागरा ॥
श्वेतरक्तपीतकृष्णा वर्णा वै चित्ररूपका।
तनौ च नखकेशादि चित्ररूपमिवाम्भसाम् ॥
भगवान् भवरूपश्च पश्यतीद परात्परम्।
आत्मवद् सवमिद ब्रह्मतेजोऽनुपश्यताम् ॥
पश्यन्ति भावरूपैश्च जले चन्द्रमस यथा।
तद्वच्चि मय सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मवादिन ॥
विश्व विश्वावनारश्च स्वनाद्यन्तश्च सम्भवेत्।
आदि चित्रमय सव पश्यति ब्रह्मचक्षुषा ॥
शिवशक्तेयथारूप ससारे सृष्टिकोद्भव,।
चित्ररूपमिद सर्वं दिन रात्रिस्तथैव वै ॥
निमिषश्च पल घटयो याम पक्षक एव च।
मासाश्च ऋतवश्चैव काल सवत्सरादिक ॥
चित्ररूपमिद सर्वं सवत्सरयुगादिकम्।
कल्पादिकोद्भव सर्वं सृष्ट्याद्य सवकमणाम् ॥
ब्रह्माण्डादिसमुत्पत्ती रचितारचिता तथा।
तथा चित्रमिद ज्ञेय नानात्व चित्रकर्मणाम् ॥
ब्रह्माण्डादिगणा सर्वे तद्रूपा पिण्डमध्यगा।
आत्मा चात्मस्वरूपेण चित्रवत् सृष्टिकमणि ॥
आत्मरूपमिद पश्येद् दृश्यमान चराचरम्।
चित्रावतारे भाव च विधातुर्भावविवणत ॥
आत्मन च शिव पश्येद् यद्वच्च जलचन्द्रमा।

तद्विचित्रमय भव शिवशक्तिमय परम् ।।
ऊर्ध्वमूलमध शाख वृक्ष चित्रमय तथा ।
शिवशक्तयालय चैव चन्द्राकपवनात्मकम् ।।
सूर्यपीठोद्भवा शक्ति सलग्ना ब्रह्ममागत ।
लीयमाना च द्रमध्ये चित्रकृत् सृष्टिकमणि ।।
चित्रावतारस्प तु कथित च परात्परम ।
यतस्तु वनत चित्रे जगत्स्थावरजगमम् ।।
देवो देवी शिव शक्ति व्याप्त यतश्चराचरम ।
चित्ररूपमिद ज्ञेय जीवमध्ये च जीवकम ।।
कूपो जले जन कपे विविपर्य्यायतस्तथा ।
तद्विचित्रमय विश्व चित्र विश्व तथैव च ।।

यह नही कहा जा सकता और न धारणा ही बनाई जा सकती है कि चित्र की उत्पत्ति अथवा उसका उद्देश्य एकमात्र धार्मिक था। चित्र-कला और चित्र-विद्या का भौतिक सेवन से भी बडा घनिष्ठ सम्बन्ध था। हम पहले ही इस सम्बन्ध मे थोडा सा सकेत कर चुके हैं (देखिए वात्स्यायन का युग और उस समय की ६४ कलाए)। गुप्त-कालीन इतिहास को पढे और उसके बाद के साहित्य काव्य नाटक आदि को पढ़ें तो ऐसा प्रतीत होता है कि नागरिका के जीवन मे चित्र कला एक अभिन्न अग थी। पुन वास्तु-शास्त्रीय एव शिल्प-शास्त्रीय दृष्टि से एक आधार-भौतिक सिद्धान्त यह भी है कि कोई भी वास्तु अथवा शिल्प कृति (Architecture or Sculpture), आलेख्य अथवा लेप्य(Paintings) के बिना पूर्ण कृति नही मानी जा सकती। जन-भवना (Secular Architecture-Civil Architecture-Residential Houses) म भी चित्र सम्बन्धी योज्यायोज्य-व्यवस्था (Decorative Motifs) पर स० सू० मे बडा ही वैज्ञानिक विवेचन हैं (दे भवन-निवेश)। शिल्परत्न का निम्नलिखित प्रवचन कितना इस दृष्टि से वास्तु-शिल्प चित्र का अन्योन्याश्रय एव अभिन्नता प्रदशन करता है

"एव सवविमानानि गोपुरादीनि वा पुन ।
मनोहरतर कुर्यानानाचित्रैर्विचित्रतम् ।।

अस्तु, इस थोडा सी समीक्षा म उद्देश्य, उत्पत्ति एव विषय—सभी पर कुछ प्रकाश पड चुका। अब आइये—चित्रागो पर।

अग अवयव तथा विधा —

षडङ्ग-चित्र —वात्स्यायन के काम-सूत्र के लब्ध-प्रतिष्ठ टीका-कार यशोधर ने निम्न कारिका म चित्र के प्रधान अगो का करामलकवत् प्रतिपादिन

किया है —

"रूपभेदा प्रमाणानि लावण्य भावयोजनम
सादृश्य वर्णिकाभग इति चित्र षडङ्गकम ॥"

अर्थात चित्र-कला के हमारे प्राचीन आचार्यों की दृष्टि मे निम्न चित्राग न केवल कला की दृष्टि मे बल्कि रसास्वाद की दष्टि से भी ये अग प्रतिपादित किए गय हैं, लेकिन चित्र को हम दो दृष्टियो से समीक्षा करेंगे एक दशक और दूसरा चित्रकार। पहले से सम्बन्ध चित्र-कौशल से नही है चित्रालोकन अथवा चित्रास्वाद से है, परन्तु चित्रलेखन तो निम्नलिखित अष्टाग उपकरणा पर आश्रित है। इस प्रकार हम दोनो तालिकाओ को पाठको क सम्मुख प्रस्तुत करते है। चित्राङ्ग—(१) रूप-भेद—नाना आकार, (२) प्रमाण (३) लावण्य (सौन्दय), (४) भावयोजन अर्थात भावाभिव्यक्ति जो रसाभिव्यक्ति पर आश्रित है (देखिए रस और रसदृष्टियां—अनुवाद) (५) सादृश्य अर्थात् चित्र और चित्रय दोनो साक्षात एक प्रतीत हो रहे है, (६) वर्णिक भग अर्थात् वण-विन्यास (Colours and Reliefs) ये क्षय-वद्धि-सिद्धान्त एव प्रक्रिया के मौलिमालायमान चित्र-कौशल हैं।

ब–चित्र-उपकरण –

(१) वर्तिका अर्थात् लेखनी—लेखा अथवा ब्रुश
(२) भूमि-बन्धन (Canvas or Background)
(३) लेप्य-कम (Drawing the Sketch),
(४) रेखा-कम (Delineation and Articulation of form)
(५) वण-कम—नानाविध रग,
(६) वतना—छाया और कान्ति की उद्भावना
(७-८) टि० दोनो उपकरण मूल म भ्रष्ट है।

स–चित्र-विधा –

अव आइय चित्रा की विधाओ पर। विष्णुधर्मोत्तर मे चित्रो क चार प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं —

(१) सत्य,
(२) वैणिक
(३) नागर तथा
(४) मिश्र।

सत्य से तात्पर्य लोक-सादृश्य से है अर्थात् जैसा लोक वैसा ही चित्र, जिस को हम True, Realistic Oblong frame के रूप म परिकल्पित कर सकते

हैं, वैणिक की व्याख्या मे विद्वानो मे मतभेद है। पदार्थ की दृष्टि से यह पट वीणा से बना है तो हम इसको चतुरश्र अर्थात चौकोर आकृति मे भी विभावित कर सकते हैं। इस चित्र-प्रकार के वर्णन मे वि० ध० ने दीर्घांग सप्रमाण, सुकुमार, सुभूमिक, चतुरश्र तथा सुसम्पूर्ण — इन विशेषणों से विशिष्ट किया है। जहा तक तीसरे चित्र-प्रकार का सम्बन्ध है यथानाम उनको हम Gentry pictures in round frames म परिकल्पित कर सकते हैं और यह एक प्रकार के सादे चित्र माने जाते हैं। जहा तक चौथा अर्थात मिश्र-प्रकार का सम्बन्ध है उसकी कोई विशेषता नही। वह इन सब विधाओं का मिश्रण ही कहा जा सकता है। डा० राघवन, डा० कुमारस्वामी की इस व्याख्या का खण्डन करते हैं (vide Sanskrit Texts on Paintings I H Q Vol X 1933)। पाठक उस को वही पर पढें और समझें। मैंने जो ऊपर साधारण सकेत किया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक है। विष्णु-धर्मोत्तर लगभग दो हजार वर्ष पुराना है। आगे चल कर पूर्व मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल मे चित्र विद्या मे विशेषकर शास्त्र की दृष्टि से बडी उन्नति हुई, तो अनायास चित्रों की विधा पर काफी शास्त्रीय एव कलात्मक स्वत प्रकर्षता प्राप्त हो गई। समरागण-सूत्रधार मे बडे ही वैज्ञानिक एव क्रमिक दिशा से चित्रो की विधा को चित्र-बन्धन पर आधारित कर रक्खा है। अत इस अधिकृत ग्रन्थ की दृष्टि मे चित्र के प्रकार केवल तीन हैं :—

(१) पट्ट-चित्र (Paintings on Board),
(२) पट-चित्र (Paintings on Cloth), तथा
(३) कुड्य-चित्र (Paintings on Wall—Mural Paintings) देखिए अजन्ता आदि।

मानसोल्लास (अभिलषितार्थ-चिन्तामणि) म चित्रो की विधा पचधा बताई गई है —

(१) विद्ध, जो वास्तव मे यह विद्ध वि ध के सत्य से अनुषगित करता अस्तु, पर लोक सादृश्य अर्थात दर्पण-सादृश्य चित्रकार का कौशल अभिप्रेत है,
कुछ प्रकाश पड़। अविद्ध — इस को हम एक प्रकार से आधुनिक Outline Drawing
अग प्रत्य-कल्पित कर सकते हैं
षडङ्ग-चित्र
यशोधर ने निम्न भाव से तात्पर्य भावव्यक्ति से है। मानसोल्लास की दृष्टि मे
र मे श्रृगार आदि रसो का महत्वपूर्ण स्थान है,

(४) रस-चित्र—इस चित्र से सम्बन्ध उपयुक्त भाव से नहीं, यहा रस का अर्थ द्रव हैं, जो वर्ण-भंग एवं वर्ण-विन्यास एवं वर्ण-चित्रण अर्थात् वर्ण-लेप पर आश्रित है,

(५) धूली-चित्र —यह एक प्रकार से प्रोज्ज्वल वर्णों का आधायक है।

टि० यह वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक नहीं है, कुछ थोड़ा सा भ्रमात्मक प्रतीत होता है।

शिल्प-रत्न मे चित्रो की विधा केवल तीन दी गई है —

(१) रस-चित्र, जो मानसोल्लास के भाव चित्र मे परिगणित किया जा जा सकता है,

(२) धूली-चित्र तथैव दे० अभि० चि०

(३) चित्र—यह एक प्रकार का वि० ध० का सत्य और मानसोल्लास का विद्ध माना जा सकता है।

चित्र प्रकारो का यह स्थूल समीक्षण यहा पर्याप्त है विशेष विवरण मेरे अंग्रेजी ग्रन्थ Royal Arts —Yantras and Citras म देखिये।

वर्तिका—भूमि-बन्धन चित्र-कला का प्रथम सोपान है। बिना भूमि-बन्धन बन्धन के आलेख्य असम्भव है। भूमि का अर्थ यहा पर कैनवास है। आलेख्य म इस साध्य के लिए जो साधन विहित है उसको हम वर्तिका की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार वर्तिका और भूमि-बन्धन दोनों को एक दूसरे के साधक-साध्य के रूप मे परिकल्पित कर सकते है। वर्तिका को हम ब्रुश नही कह सकते। यह वर्तिका विशेषकर भूमि-बन्धन मे ही उपयोगी मानी जाती है। चित्र-कला के अष्ट विध उपकरणो मे वर्तिका का संकेत हम कर ही चुके हैं। कुछ आधुनिक विद्वानो ने वर्तिका का अर्थ ठीक तरह से नहीं समझा। डा० मोती चन्द्र ने (Cf Technique of Mughal Painting Page 45) वर्तिका को वर्तना के रूप मे समझा है। यह भ्रान्त है। वर्तना एक प्रकार से वर्ण-विन्यास है और वर्तिका उपकरण है। इस प्रकार वर्तिका को हम आधुनिक चित्र के पारिभाषिक पदो मे (Crayon) के रूप म विभावित कर सकते हैं। इस समीक्षा से हम यह सिद्ध कर देते हैं कि प्राचीन भारत म आलेख्य चित्रो की रचना मे (Crayon) के द्वारा जो चित्र के लिए पहला स्केच बनाया जाता था, वह वास्तव म उस अतीत में भी यह प्रक्रिया पूर्ण रूप से प्रचलित थी। संयुक्त निकाय (द्वितीय, ५) मे इस प्रक्रिया का पूर्ण स्केच है, जो आलेख्य चित्रो और (Panels) मे भी प्रयुक्त होती थी। इसी प्रकार दश-कुमार चरित एव

प्रसन्न-राघव म भी क्रमश इसे वर्ण-वर्तिका तथा शलाका क नाम से निर्दिष्ट किया है। मुगल-कालीन चित्रकार चित्रो के बनाने मे जो खाका खीचने थ वे इमली के कोयले को लेकर यह क्रिया करते थे। आग आधुनिक काल मे जब पैंसिलो का प्रयोग आरम्भ हुआ तो यह परम्परा समाप्त हो गई।

अस्तु शास्त्रीय दृष्टि से आलेख्य-चित्रो म चित्र वि यास के लिए तीन प्रकार की लेखनिया अनिवाय थी—वर्तिका, तलिका, लेखनी। वर्तिका का प्रयोग भूमि-बन्धन अर्थात Canvas or Background के लिए होता था। पुन वर्ण विन्यास (Colouring) के लिए तूलिका और लेखनी। पुन चित्र के उन्मीलन के लिए एव उसमे प्रोज्ज्वलता के साथ कान्ति और छाया (Light and Shade) के लिए प्रयुक्त होती थी। आगे आलेख्य चित्र म जो सवमौलिमालायमान प्रायः शास्त्रीय दृष्टि से सिद्धान्त है वह है "क्षय वृद्धि का सिद्धात' अर्थात् कहा पर किस अग म भाव-व्यक्ति के लिए लावण्य लाने के लिए एव सौन्दय की स्थापना करन क लिए तथा लोक- सादृश्य एव विनिर्मेय चित्र के द्वारा क्या क्या सूक्ष्म है, प्रदश्य हैं विभाव्य है—यह सब इसी सिद्धान्त के द्वारा चित्र स्फुटता और चित्रकार का अभीप्सित उद्देश्य भी सम्पन्न हो जाता था। चित्र-कला और चित्र-कार का यही परम कौशल था। मानसोल्लास मे जो वर्तिका की परिभाषा दी गई है वह हमारे इस उपयुक्त सिद्धान्त को दृढ़ करती है —

> कज्जल भक्तसिक्थेन मृदित्वा कणिकाकृतिम्।
> वर्ति कृत्वा तया लख्य वर्तिका नाम सा भवेत ।।

यह वर्तिक-व्याख्या समरागण जैसे अधिकृत शिल्प-ग्रन्थ से भी पुष्ट होती है (दे० अनु० अ० ७१) मानसोल्लास—अभिलषितार्थ-चिन्तामणि-नामापर शीषक-ग्रन्थ मे जो हमने आलेख्य चित्र मे तीन लेखनियो (वर्तिका, तूलिका तथा लखनी) का जो सकेत किया है, उनमे तलिका (Paint Brush) भी एक प्रकार से द्विविध कीर्तित की गई है। तूलिका यथानाम कलरपेन है जो रेखाओ के लिए है और इसकी दूसरी विधा ति दु क नाम से निर्दिष्ट की गई है। इन दोनो की रचना-प्रक्रिया मे भी बडे कौशल की आवश्यता होती थी। विशेषकर बशवक्ष में यह बनती थी, क्योकि बश ही इन लखनियो क लिये उस समय बड़ा उपयुक्त माना जाता था और उस म ताम्र की यवमात्रिक निब लगाई जाती थी।

जहा तक वर्तिका-निर्माण का प्रश्न है उसकी प्रक्रिया समरागण-सूत्रधार (मूलाध्याय ७२ १–३ तथा परिमार्जित समरागण ४९, १-३) मे देखिये और साथ ही इस का अनुवाद भी देखिये वहा पर इस वर्तिका-बधन मे कितन अध्यवसाय की आवश्यकता होती थी—कहा से, किस क्षेत्र से गुल्म वापी, वृक्ष मूल आदि आदि स्थानो से—मत्तिका लानी चाहिय । फिर उसमे कौन कौन से द्रव्य चूर्ण, औषधिया आदि मिलाई जाती थी और किस पारिभाषिक प्रक्रिया से इस की वर्तिका (वर्ति) बनाई जाती थी—यह सब हमारे प्राचीन शिल्प एव चित्र की प्रौढ प्रक्रिया एव परम्परा पर प्रकाश डालती है ।

भूमि-बन्धन—वसे तो अन्य चित्र शास्त्रीय ग्र था मे चित्रा क जो प्रकार बताय जाते हैं, वे कुछ मौलिक एव निर्भ्रान्त नही है मत्य वैणिक विद्ध अविद्ध धूलि रस आदि सब मेरी दृष्टि म वर्गानुरूप स्पष्ट नही है, परन्तु समरागण की दृष्टि मे यह दिशा बडी वैज्ञानिक है, क्योकि पुरातत्त्वीय अन्वेषणो म प्राप्त जो निदशन मिलते हैं वे भी समरागण के चित्र-प्रकारो की पूरी पुष्टि करते हैं । प्राचीन, पूव एव उत्तर मध्य-कालीन जो स्मारक निवधनीय चित्र मिलत है वे या तो कुडय चित्र (Mural Paintings) हैं अथवा पट्ट-चित्र (Panels) अथवा पट-चित्र जैसे पुरी मे भगवान् जगन्नाथ के पट-चित्र—"पटस्थो नारायणो हरि"—(दे० हृ० प०) । इसी प्रकार नाना भाण्डागारो मे ऐसे चित्र-स्मारक रूप मे बडी मात्रा मे मिलत हैं । अतएव स० सू० मे जो चित्र की त्रिविधा है वही चित्रानुकूल भूमि-ब धन भी त्रिविध है ।

(१) कुड्य-भूमि-ब धन (The Mural Canvas),

(२) पट्ट-भूमि-बन्धन (The Board Canvas),

(३) पट भूमि-बन्धन (The Cloth Canvas)।

इन भूमि-बन्धनो के निर्माण की प्रक्रिया बडी ही एक प्रकार की व्रतचर्या-रूपा है । समरागण-सूत्रधार (द० अनु०) का आदश है कि भूमि ब धन क निये कना अथात चित्रकार, भर्ता अर्थात सरक्षक, शिक्षक अथवा आचाय या गुरु—इन सब को पहल व्रत रखना चाहिय । फिर जो भूमि ब धन क पूव वर्तिका निर्मित हो चुकी है उसकी पूजा करनी चाहिए । पुन यथाभिलषित भूमि ब धन खर अथवा मृदु—तदनुरूप पिण्डादि, कल्कादि चूर्णादि एव द्रवादि इन सबो से रोमकूचक से लेप, प्लास्टर करना चाहिए । यह एक प्रकार की आरम्भिका प्रक्रिया है, जिसकी सज्ञा शिक्षिका भूमि दी गई है । अस्तु अब हम इन तीनो भूमि-बन्धनो की अलग-अलग समाक्षा करेंगे ।

कुडय-भूमि-बन्धन—भित्तिक-चित्रों के लिये लेप्य-प्रक्रिया आवश्यक है। पहले तो दीवाल को सम बनाना चाहिये पुन क्षीर-द्रुमो जैसे स्नुही वास्तुक, कूष्माण्डक, कुद्दाली, अपामार्ग अथवा इक्ष आदि के क्षीर रस को एक सप्ताह तक रक्खा जाय। शिशपा, आमन, निम्बा, त्रिफला, व्याधिघात, कुटज आदि वर्ग के रस मे उपयुक्त क्षीर-द्रुमो के रसो को मिश्रित द्रव्य बना कर उसके द्वारा समतलीय भित्ति पर सिंचन करना चाहिये। पुन दूसरी प्रक्रिया पर आना चाहिये जो मृत्तिका-लेपन से उस का लिम्पन करना चाहिये। मृत्तिका मादवी होनी चाहिये और उसमे ककुभ, माष, शाल्मली श्रीफल वृक्षों के द्रवो को लेकर मिलाना चाहिये। इस तरह से प्लास्टर बनाकर गज-चर्म प्रमाण मे दीवाल पर लेप करना चाहिये। तीसरी प्रक्रिया अर्थात अन्तिम प्रक्रिया के द्वारा कडि-शर्करा-चूर्ण के द्वारा इस पर दूसरा प्लास्टर करना चाहिये। इस प्रक्रिया से वर्ण विन्यास अपने आप उभर आता है और छाया कान्ति भी इसी के द्वारा प्रस्फुटित हो जाती है।

अजन्ता के चित्रो को देखिये तो Frescos चित्र ही वहा के सब से बड़े अनुपम एव समृद्ध निदर्शन है। वे इसी समरांगण-सूत्रधार की कुडय भूमि-निबन्धन के निदर्शन हैं। ग्रिफिथ (देखिये The Paintings in the Buddhist Cave Temples of Ajanta Vol I, Page 18) ने भी इस प्रक्रिया का समर्थन किया है। अजन्ता के इन कुडय-भूमि-बन्धनो मे मृत्तिका, गोबर चावल की भूसी और चूर्ण (कडि-शर्करा) आदि सभी चूर्ण एव द्रव यथा-पूर्व प्रतिपादित प्रक्रिया के द्योतक एव समर्थक हैं। तंजोर के बृहदीश्वर मन्दिर के आलेख्य चित्रो को देखें तो वहा पर भी कडि शर्करा और बालुका का प्रयोग भी इन भित्तिक चित्रो मे साक्षात् प्रतीत हो रहा है। दक्षिण का यह अति-प्रसिद्ध मन्दिर ११वीं शताब्दी का स्मारक-प्रासाद है और समरांगण-सूत्रधार भी इसी शताब्दी मे लिखा गया था। अतएव शास्त्र एव कला दोनो का यह ग्रन्थ प्रतिनिधित्व करता है। श्री परम शिवन (देखिये The Mural Paintings on Brhadisvare Temple at Tanjore—an Investigation into the method and Technical studies in the Field of Fine Arts) ने भी इस प्रक्रिया की समीक्षा मे इस प्रतिपादित शास्त्रीय प्रक्रिया का समर्थन किया है।

जहा तक मुगल चित्रो एव राजस्थानी चित्रो, जिन का हम उत्तर मध्य कालीन कृतियो के रूप में विभावित कर सकते है उनमे भी इसी प्रकार का

भूमि बन्धन-प्रक्रिया का आश्रय लिया गया था। वैसे तो आधुनिक विद्वानो ने मुगल-कालीन भित्तिक चित्रो के भूमि-बन्धन को इटली के समान उसको Fresco Buono की मना दी है।

अस्तु, हमे यहा पर विशेष विस्तृत समीक्षा मे जाने की आवश्यकता नही। हम तो समरागण-सूत्रधार की लेप्य-क्रिया की प्रक्रिया का पाठको के सामने रखना था, जो हमारे चित्र-शास्त्र और चित्र-कला के पारिभाषिक एव लौकिक दोनो दृष्टियो का विकास कितना उस समय हो चुका था, यह प्रतिपादित करता है।

अब हम इन तीनो भूमि-बन्धनो मे कुड्य भूमि-बन्धना के बाद पट्ट भूमि-बन्धन पर आ रहे है। 43647

पट्ट-भूमि बन्धन —इस प्रक्रिया मे निम्बा बीजो को लाकर उनकी गुठलिया को निकाल कर पुन उनको विशुद्ध कर उनका चूर्ण बनाना चाहिए फिर किसी बर्तन म रखकर पकाना चाहिए। इसी द्रव से फलको पर प्लास्टर करना चाहिए। यदि निम्बा-बीज न मिल रहे हो तो शालि भक्त का प्रयोग करना भी उपादेय प्रतिपादित किया गया है।

पट भूमि-बन्धन—वैसे तो अन्य चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो के अनुसार इस पर भूमि-बन्धनो की प्रक्रिया के नाना अवान्तर भेद प्राप्त होते हैं, परन्तु समरागण-की दिशा मे यह पट्ट-भूमि-बन्धन के ही समान है।

प्राचीन भारत मे तथा पूर्व एव उत्तर मध्यकालीन भारत म पट-चित्रो का बडा प्रसार था। बौद्ध-ग्रन्थो जैसे सयुत्त-निकाय विशुद्धि मग्ग महावश, मञ्जुश्री मूलकल्प ब्राह्मण ग्रन्थो मे जैसे वात्स्यायन काम-सूत्र म, भास के दूत-वाक्य मे, माधवचार्य की पचदशी म इस प्रकार के नाना सदर्भ प्राप्त होते है।

उडीसा, पट चित्रो का प्राचीन काल से केन्द्र रहा है। पुरी के भगवान् जगन्नाथ के पट-चित्रो का सकेत हम कर चुके हैं। वैष्णव धर्म मे वास्तव में पट चित्रों का बडा माहात्म्य है। इस का भी हम पहले ही हयशीर्ष पचरात्र के प्रवचन के उद्धरण से इस के प्राल्लास की ओर सकेत कर ही चुके हैं। जिस प्रकार उडीसा में इस वैष्णव पीठ (जगन्नाथपुरी) पर पट चित्रो की बडी महिमा है उसी प्रकार राज-स्थान के वैष्णवी पीठ श्रीनाथद्वार मे भी इन पट-चित्रो की महिमा है।

हमने अपने Hindu Canons of Painting or Citra Laksanam" तथा Royal Arts—Yantras and Citras मे इस समरागणीय भूमि-बन्धन की जो तुलनात्मक समीक्षा और चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो तथा स्मारको के सम्बन्ध म विश्लेषण किया है, वह विस्तार से वही द्रष्टव्य है।

चित्राधार एव चित्र-मान —भूमि-बन्धन के उपरात बिना आधार एव प्रमाण के चित्र की रचना असभाव्य है । समरागण-सूत्रधार मे इस विषय पर दो अध्याय हैं (देखिए अण्डकप्रमाण एव मानोत्पत्ति) । अण्डक का अर्थ चित्र-शास्त्र की दृष्टि से लगाना मेरे लिये बडा ही कठिन था । अन्ततोगत्वा जो मैंने इसकी व्याख्या की उसको देख कर इस देश के विद्वद्रत्नो यथा म० म० वासुदेवविष्णु मिराशी, उन्होने इस पर बडी प्रशसा प्रकट की जो शब्द बिलकुल अपरिज्ञेय थे उनको सूझ-बूझ के द्वारा जो व्याख्या दी गई है, उससे पारिभाषिक शास्त्रो के अनुसधान एव अध्ययन में बडा योग-दान मिला है । अण्डक का अर्थ हम ने बादामा माना क्योंकि अण्डा और बादाम एक ही आकार के दिखाई पडते हैं । वसे तो अण्डक का अर्थ वास्तु कला की दृष्टि से Cupola है लेकिन तक्षण एव मूर्तिकला अर्थात चित्रकला मे मेरी दृष्टि मे यह एक प्रकार का खाका (Outline) है । जिस प्रकार से प्रासाद का अण्डक अर्थात शृंग या शिखर प्रासाद-रचना का सूचक एव द्योतक है, उसी प्रकार से यह अण्डक अर्थात् बादामा तथैव प्रतिष्ठापक है ।

समरागण-सूत्रधार मे नाना अण्डको के मान पर विवरण दिये गये हैं जसे पुरुष, स्त्री, शिशु, राक्षस, दिव्य, देवता, दिव्यमानुष, प्रमथ, यातुधान, दानव नाग, यक्ष, विद्याधर आदि आदि ।

अस्तु अब इनकी तालिका प्रस्तुत करते हैं —

क्रम स०	सज्ञा	प्रमाण		विवरण
		लम्बाई	चौडाई	
१	पुरुषाण्डक	६	५	नारिकेलफलोपम
२	वनिताण्डक	—	—	
३	शिशुकाण्डक	५	४	
४	राक्षसाण्डक	७	६	चन्द्रवत्तोपम
५	देवाण्डक	८	६	
६	दिव्य-मानुषाण्डक	६½	५½	मानुषाण्डक से ½ अधिक
७	प्रमथाण्डक	५	४	शिशुकाण्डक-सम
८	यातुधानाण्डक	७	६	दे० राक्षसाण्डक
९	दानवाण्डक	८	६	दे० देवाण्डक
१०	गन्धर्वाण्डक	८	६	

११	नागाण्डक	८	६	,,
१२	यक्षाण्डक	८	६	,,
१३	विद्याधराण्डक	६½	४½	दे० दिव्यमानु०

अण्डक-प्रमाणो के बाद काय-प्रमाण भी चित्र-शास्त्र मे अत्यन्त उपादेय माने गये हैं। उनके भी प्रमाण निम्न तालिका मे सूच्य हैं

व्यक्ति-विशेष	प्रमाण लम्बाई	चौडाई	विवरण
१ देव	३०	८	
१ असुर	२६	७½	
३ राक्षस	२७	७	
४ दिव्य मानुष	—	—	
५ मानव			
अ पुरुषोत्तम (उत्तम)	२४½	६	
ब मध्यम-पुरुष (मध्यम)	२३	५½	
स कनीय-पुरुष (कनिष्ठ)	२२	५	
६ कुब्ज (कूबड)	१४	५	
७ वामन (बौना)	७½	५	
८ किन्नर	७½	५	
९ प्रमथ	६	४	

समरागण सूत्रधार मे नाना रूपो के भी बडे ही मनोरजक प्रकार, वर्ग एव विधायें प्राप्त होती हैं। उन सब की निम्न तालिका प्रस्तुत की जाती है।—

जातिया	विधा
१ देव	त्रिविध—सुरज, कुम्भक
२ दिव्य-मानुष	एकमात्र—दिव्यमानुष
३ असुर	त्रिविध—चक्र, मुत, तीणक
४ राक्षस	त्रिविध—दुर्दर, शकट, कूम
५ मानव	पच-विध—हस, शश, रूचक, भद्र, मालव्य
६	द्विविध—मेष, वृत्ताकर
७ वामन	त्रिविध—पिण्ड, स्थान, पद्मक
८ प्रमथ	त्रिविध—कूष्माण्ड, कवट, तियक
९ किन्नर	त्रिविध—मयूर, कुवट, काद्य

१०	स्त्री	पञ्चविधा—बलाका, पौरुषी, वत्ता, दडा,
११	गज—जन्मत	चतुर्विध—भद्र, मन्द, मृग, मिश्र
	जीवनाश्रय	त्रिविध—पर्वताश्रय, नद्याश्रय, उपराश्रय
१२	अश्व (रथ्य)	द्विविध—पारस, उत्तर
१३	सिंह	चतुर्विध—गिरिराश्रय, बिलाश्रय, गुल्माश्रय, तृणाश्रय
१४	व्याल	षोडश-विध —
	हरिण	गण्डक
	गृध्रक	गज
	शशक	क्रोड
	कुक्कुट	अश्व
	सिंह	महिष
	शार्दूल	श्वान
	वृक	मर्कट
	अजा	खर

टि० —यह रूप तालिका समरागण-सूत्रधार को छोडकर अन्य किसी भी चित्र-ग्रन्थ मे प्राप्य नही। विष्णु धर्मोत्तर, जो इस चित्र विद्या का सर्व प्राचीन एव प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है उसमे केवल सकेत मात्र है, तालिका एव विवरण नही मिलते।

यह अण्डक एव काय प्रमाणादि सब एक प्रकार से शास्त्रीय रूढियां (Conventions) हैं। अण्डक आदि प्रमाण तथा काय आदि प्रमाण यह सब एक प्रकार से चित्र में चित्र्य के उदभावक हैं। यदि हम किसी महापुरुष जैसे भगवान बुद्ध तथा मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम को हम चित्र मे चित्रित करना चाहते हैं तो उन्हें हम आजान-बाहु तथा अन्य महापुरुष-लाछनो से लाछित यदि नही करते है तो कैसे ऐसे महापुरुषो के चित्र चित्र्य हो सकते है? सभी महाराजे, अधिराजे भी इसी प्रकार के महापुरुषो तथा दिव्य देवो के सदृश तेजो-मडल से विभावित किए जाते हैं। रेखाओ से भी इन्हें लाछित किया जाता है। मुखाकृति, शरीराकृति आदि के अतिरिक्त, कुन्तल केश, वेष, वस्त्र, आयुध—अस्त्र-शस्त्र भी तो यथा पुरुष वैसा ही चित्र—उसी में यह सब चिन्ह हैं।

इसी प्रकार किस पुरुष अथवा नारी या पशु और पक्षी, देवता अथवा देवी के अगो प्रत्यगो उपागो का निर्माण किस प्रकार करना चाहिए और उसका आकार कैसा होना चाहिए प्रमाण—लम्बाई ऊचाई, मोटाई, गोलाई कैसी करनी चाहिए ? किस चित्र मे अक्षि धनुषाकार अथवा मत्स्योदर-सन्निभा बनाना चाहिए या पद्माकृति मे बनानी चाहिए इन सब की प्रक्रिया चित्र पर आश्रित है। यदि प्रेमी और प्रेमिका के अक्षियो का चित्रण करना है तो उनकी आख मत्स्योदर सन्निभा विहित है। शात-मुद्रा, ध्यान मुद्रा मे अक्षि का आकार धनुषाकार बताया गया है। विष्णुधर्मोत्तर मे राजाओ महाराजाओ पितरो, मुनियो ऋषियो आदि की किस प्रकार की वेष भूषा करनी चाहिए—यह सब उस ग्रन्थ मे विशेष रूप से द्रष्टव्य है। हमने अपने ग्रन्थ मे समरागण-सूत्रधार के लक्षणो मे इन विवरणो की पूर्ण रूप से समीक्षा की है जो हमारे Hindu canons of Painting or Citralaksanam तथा Royal Arts—Yantras and Citras मे विशेष रूप मे द्रष्टव्य हैं।

अस्तु अब मानाधार—इस स्तम्भ के अध-शीर्षक के क्षेत्र पर हमने थोडा प्रकाश डाल दिया है, अब चित्र-मान पर विचार करना है। भारतीय स्थापत्य की दृष्टि मे चित्र के षडग मे रूप भदो के बाद प्रमाणो का महत्वपूर्ण स्थान आता है। वसे तो समरागण-सूत्रधार, विष्णु-धर्मोत्तर तथा अपराजित-पृच्छा ऐसे बृहद्-ग्रन्थो मे चित्र-मान पर काफी विवरण प्राप्त होते हैं, पर त मानसोल्लास मे चित्र प्रमाण प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) पर बडा ही पारिभाषिक वज्ञानिक तथा प्रौढ विवरण प्राप्त होता है। मानसोल्लास का सबसे बडी देन फ्लक चित्र (Portrait Paintings) हैं। इन चित्रो के निर्माण के लिए मान-सूत्रो का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है—ब्रह्मसूत्र (Plumb lines) तथा दो पक्ष सूत्र। ब्रह्मसूत्र यथा नाम केशान्त अर्थात मस्तक से यह रेखा प्रारम्भ होती है और दोनो आखो की भौहो के मध्य से नासिकाग्र भाग से, चिबुकमध्य, वक्ष स्थल-मध्य तथा नाभि से गुजरती हुई दोनो पादों के मध्य तक अवसानित हो जाती है। इस प्रकार यह रेखा एक प्रकार से शरीर के केन्द्र को अकित करती है जो सिर से लगाकर पाद तक खिचती है। जहा तक दो पक्ष-सूत्रो का प्रश्न है वे भी यथानाम शरीर के पार्श्वों से प्रारम्भ होते हैं। यह आवश्यक है कि ब्रह्मसूत्र की रेखा से दोनो ओर छै अगुल के अवकाश पर इन दोनो सूत्रो का प्रयोग करना चाहिए। ये दोनो कर्णान्त से प्रारम्भ करते हैं और चिबुक के पार्श्वों से

गुजरते हुए, जानुआ के मध्य से पुन नाल तथा पाद की दूसरी अगुली, जो अगूठे के निकट होती है, वहा पर प्रत्यवमानित होती है।

इस अत्यन्त पारिभाषिक मान प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) मे स्थानक-मुद्रायें अर्थात पाद-मुद्राए बडा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। अतएव इन्ही सूत्रो के द्वारा जो समरागण-सूत्रधार म ऋज्वागतादि नौ स्थानो का प्रतिपादन किया गया है, उनमे मानमाल्लास की दृष्टि से निम्नलिखित पाच स्थानक-मुद्राओं को इन सूत्रो के द्वारा विहित बताया गया है —

इस ग्रन्थ मे इन स्थानक मुद्राओ को ऋजु, अधजु, साची अर्धाक्ष तथा भित्तिक की सज्ञाओ मे प्रतिपादित किया गया है।

ऋजु स्थान —सम्मुखीन मुद्रा-स्थिति से वेद्य है–जिस मे ब्रह्म-सूत्र (**Central and Plumb Line**) जैसा ऊपर सकेत है यहा पर भी छै अगुल का अवकाश बताया गया है।

अद्धजु क-स्थान —इसका वैशिष्ट्य यह है कि ब्रह्मसूत्र से पार्श्व पर एक पक्ष-सूत्र का अवकाश आठ अगुल का है और दूसरे पार्श्व पर चार अगुल का।

साची-स्थान —इस मे विशेषता यह है कि ब्रह्म-सूत्र से एक पार्श्व पर पक्ष-सूत्र की ओर दस अगुलो का मध्यावकाश बताया गया है और दूसरे पार्श्व पर केवल दो अगुलों का,

अर्धाक्षिक स्थान —इस को अन्य सूत्रो के समान वैसी ही व्यवस्था दी गई है। यहा पर ब्रह्म-सूत्र से एक पार्श्व पर पक्ष-सूत्र की ओर एकादश अगुल आवश्यक है और दूसरे पार्श्व पर केवल एक अगुल।

भित्तिक-स्थान —यहा पर ज्यो ही हम पहुचते हैं तो ब्रह्म-सूत्र उड गया और पक्ष-सूत्रो का आधिराज्य हो गया।

अभी तक हम चित्राधार एव मान विग्रह पर कुछ प्रतिपादन करते रहे। अब मानाधारो पर आकर पुन अन्त मे समलम्बित मानो (Vertical Measurements) की तालिका भी रक्खेंगे जिससे यह पता लगेगा कि प्राचीन भारत मे और पूर्व एव उत्तर मध्यकाल मे चित्र विद्या एव कला कितनी प्रौढ थी और चित्र-शास्त्र का कितना प्रबुद्ध पारिभाषिक विकास हो चुका था। यह सब हमारे स्थापत्य-कौशल के ही सूचक नहीं हैं, वरन् हमारे प्राचीन पारिभाषिक एव वैज्ञानिक शास्त्रो का भी प्रतिबिम्बन करते है।

समरागण सूत्रधार के मानोत्पत्ति का अनुवाद देखें, उसी के अनुरूप हम यहा पर चित्र-तालिका की उपस्थापना करते है —

८ परमाणु—१ त्रसरेण	८ यूका—१ यव
८ त्रसरेणु—१ बालाग्र	८ यव—१ अगुल या मात्रा
८ बालाग्र—१ लिक्षा	२ अगुल—१ गोलक या कला
८ लिक्षा—१ यूका	२ कला या गोलक—१ भाग

सारा शरीर सिर से पैर तक ऊचाई मे नौ ताल है केशात से हनु तक मुख एक ताल का होता है।

ग्रीवा	४ अगुल	ग्रीवा से हृदय	१ ताल
हृदय से नाभि	१ ताल	नाभि से मेढ़	१ ताल
ऊरू	२ ताल	जानु	४ अगुल
जघा	२ ताल	चरण	२ अगुल

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र के अनुसार शरीर की ऊचाई ९ ताल है और मौलि केशात चार अगुल है। इस प्रकार वास्तविक ऊचाई नौ ताल और ४ अगुल है अथवा साढे नौ ताल।

समलम्बित मान (Vertical Measurements)

१ मस्तक-सूत्र (Line of the Crown)

२ केशात-सूत्र —यह सूत्र मस्तक से चार अगुल नीचे से, कर्णाग्र से तीन अगुल ऊचे उठकर, शिर के चारो ओर जाती है,

३ तपनोद्देश-सूत्र उपयुक्त रेखा के नीचे दो अगुल से प्रारम्भ होती है और शख-मध्य से जाती है और कर्णाग्र के ऊपर एक अगुल से प्रारम्भ होती है

४ कचोत्सग सूत्र —एक अगुल नीचे से प्रारम्भ होकर जब भौहो के निकट से जाती है तो शीर्ष-कम के अन्त मे प्रत्यवसानित होती है

५- कनीनिका-सूत्र —जो अपाग-पार्श्व से प्रारम्भ होकर पिप्पली की ओर जाती है वह एक अगुल नीचे से प्रारम्भ होती हैं,

६ नासा-मध्य-सूत्र —दो अगुल नीचे से प्रारम्भ होकर कपोल के उच्च-प्रदेश से गुजरती हुई कर्ण मध्य मे अवसानित होती है,

७ नासाग्र-सूत्र —दो अगुल नीचे से प्रारम्भ होती है। यह कपोल-मध्य जाता हुआ कर्ण-मूल पर के श्रोतपत्ति-प्रदेश तथा पृष्ठ पर अवसानित होती है,

८ वक्त्र-मध्य सूत्र —आध अगुल नीचे से प्रारम्भ होकर स्वक्रा अथवा कृकाटिका से गुजरता है ,

९ अधरोष्ठ-सूत्र — यह भी आधे अगुल नीचे होता है, पुन वह चिबुक हड्डी से गुजरती हुई ग्रीवा पृष्ठ पर पहुच जाती है ,

१० हन्वग्र-सूत्र —तो दो अगुल नीचे मे शुरू होती है। यह ग्रीवा से गुजरती हुई क-ध की हड्डी पर पहुचती है ,

११ हिक्का-सूत्र —यह कधो के नीचे से पास होता है ,

१२ वक्ष -स्थल-सूत्र —सात अगुला स नीचे से प्रारम्भ होता है

१३ विभ्रमांग-सूत्र —पाच अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१४ जठर-मध्य-सूत्र —छै अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१५ नाभि-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१६ पक्वाशय-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१७ काञ्ची पाद-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० द० H C P

१८ लिंग शिर-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

१९ लिंगाग्र सूत्र —पाच अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

२० ऊरु-सूत्र —आठ अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० द० H C P

२१ मान सूत्र (ऊरु-मध्य सूत्र) —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

२२ जानुमूल सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P

टि० —ये तीनो (२०–२२) सूत्र जघाओ (Thighs) के बगल से गुजरने चाहियें।

२३ जानुच-सूत्र —चार अगुल नीचे से प्रारम्भ होते हैं। यह भी जानु के चारो ओर से गुजरना चाहिए।

२४ ब्रह्मवस्ति-सूत्र —बारह अगुल अर्थात एक ताल स नीचे पास होना चाहिये ;

२५ नलकान्त सूत्र दश अगुल नीचे से प्रारम्भ होना चाहिए ,

२६ गुल्फान्त सूत्र —दो अगुल नीचे से प्रारभ होना चाहिए ,

२७ भूमि-सूत्र —चार अगुल से नीचे प्रारम्भ होता है ।

इस प्रकार इस ब्रह्म-सूत्र की लम्बाई का टोटल १०८ अगुल हो जाता है ।

विशेष सूच्य यह है कि मानसोल्लास की दिशा मे भित्तक चित्र—कुड्य-चित्रो (Mural Paintings) मे केवल उपयुक्त चार स्थानो अर्थात ऋजु आदि प्रथम चार ही उपादेय हैं। पाचवा भित्तिक-स्थान यहा पर कोई महत्व नही रखता, क्योंकि वहा पर कोई भी आननाग यहा पर प्रकाश्य एव प्रदश्य नही होता।

लेप्य-कर्म

लेप्य-कर्म चित्र-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। इसम हम रगो अथवा वर्ण-विन्यास तथा पेंटो को नही गताथ कर सकत । लेप्य-कर्म का प्रयोग भूमि बधन मे है जिसका साहचर्य वर्तिका स है। और वर्ण-विन्यास जैसा हम आगे देखेंगे उसका साहचर्य लेखनी या तूलिका से है। पीछे भूमि-ब धन-स्तम्भ मे लेप्य-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला ही जा चुका है अब यहा पर विशेष ज्ञातव्य एव प्रतिपाद्य यह है कि लेप्य किस प्रकार से निर्मित होना है। प्राचीन भारतीय चित्रकला की सर्व-प्रमुख विशेषता समस्त स्थावर-जगमात्मक ससार का प्रतिबिम्बन ही एक मात्र उद्देश्य था। अपराजित-पृच्छा का निम्न उद्धरण इस पृष्ठ-भूमि का कितने सुन्दर ढग से समर्थन करता है —

> कूपे जल जल कूपे विधिपर्यायतस्तथा ।
> तद्विच्चित्रमय विश्व चित्र विश्वे तथैव च ॥

अब थोडा सा सकेत आधुनिक चित्र-कला के स्वरूप और उद्देश्य पर करना है, जिससे हमारी प्राचीन चित्र-विद्या का मूलाधार विषयीगत चित्रण (Objective representation) या वह बोधव्य हो सके, परन्तु आजकल जिन भी चित्रो को देखें उनमे चित्रकारो की अपनी subjective विषयगत भावना के द्वारा यह चित्र निर्मित होने लगे हैं, जिनको subjective representations विषयगत चित्र कह सकते हैं। मेरी दृष्टि मे यह आधुनिक चित्र-कला अपनी मूल भित्ति को ही छोड दी है। जिन का नैसर्गिक ध्येय प्रतिबिम्बन है अत चित्र और अग्रजी क पद ~ nature शास्त्रीय दृष्टि स क्यों भा

पर्यायवाची नही हो सकते। अंग्रेजी के इस शब्द Painting के लिए पूरी छूट है जो चाहो Paint करो परन्तु चित्र के लिए तो प्रतिमा के लिए तो इस समस्त स्थावर-जगात्मक ससार से किसी भी पदार्थ अथवा द्रव्य को लें तो उसका तब ही चित्रण हो सकता है जब उसमे प्रतिबिम्बन पूर्ण रूप से मुखरित हो जाए। अस्तु इतनी सूक्ष्म समीक्षा पर्याप्त है। अब आइये लेप्य कर्म की ओर।

लेप्य कर्म—समरागण-सूत्रधार के लेप्य-कर्म-शीर्षक अध्याय मे लेप्य-प्रक्रिया का बड़ा ही वैज्ञानिक एव पारिभाषिक विधान प्रतिपादित किया गया है। पहले तो लेप्य के लिए किस प्रकार की मृत्तिका अपेक्षित होती हैं, उसके बडे पुष्कल विवरण दिए गये हैं कि यह मिट्टी किन किन स्थानो, स्थलो एव तटो से लाई जाए। पुनः जैसा हम ऊपर सकेत कर चुके है वर्तिका और भूमि-बन्धन एक दूसरे के क्रमश साधन एव साध्य है। किस प्रकार से वर्तिका बनाई जाती है और किस प्रकार से लेप्य बनाया जाता है यह सब विवरण इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड-अनुवाद मे देखें।

स० सू० मे लेप्य एक मात्र मार्तिक प्लास्टर अर्थात् मार्तिक लेप्य के विवरण दिए गए हैं, परन्तु वि० ध० मे तो ऐष्टिक प्लास्टर (Brick Plaster) अर्थात् शैलेय प्लास्टर की विशेष महत्ता दी गई है। यह लेप्य-कर्म वि० ध० मे वज्र-लेप के समान दृढ बताया गया है। डा० कुमारी स्टैला क्रैमरिश ने वि० ध० के इस चित्र-प्रकरण का अनुवाद किया है उसका अवतरण विशेष सगत नही है।

मानसोल्लास मे भी इसी प्रकार के लेप का प्रतिपादन है जिसकी सज्ञा वज्रलेप के नाम से दी गई है।

स्निग्धानुलेपन (Ointment)—जहा तक Ointment का प्रश्न है वह एक प्रकार से किसी भी आलेख्य के लिए जो भूमि बन्धन (कुड्य भूमि बन्धन, पट्ट-भूमि-बन्धन अथवा पट भूमि-बन्धन) लेप्य-कर्म के द्वारा बनता है, उसका दूसरा सोपान स्निग्धानुलेपन (Ointment) है। वह एक प्रकार से अपनी भाषा मे मर्दन एव प्रोज्ज्वलन के नाम से प्रकीर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार से लेप्य-कर्म मे पहला सोपान मृत्तिका-बन्धन है। दूसरा सोपान जो ointment के नाम से हम पुकारते है वह एक प्रकार का सुधा-बन्धन अथवा रस बन्धन अथवा वर्ण बन्धन है। प्रथम बन्धन तो मौलिक है और ये तीनो बन्धन एक प्रकार से इस बन्धन मे वैशिष्ट्य सम्पादन के लिए प्रकीर्तित किए गए हैं जो भूमि बन्धन

की प्रोज्ज्वलता सम्पादनार्थ हैं। अतएव शिल्प-रत्न का निम्न प्रवचन इसी तथ्य का प्रतिष्ठापक एव पोषक है —

एव धवलित भित्तौ दर्पणोदरसन्निभे
फलकादौ पटादौ वा चित्रलेखनमारभेत'

वर्ण और लेखनी तथा छाया और कान्ति
(क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त)

स० सू० के चित्राध्यायो मे वर्णों अथवा रगो के प्रवचन नही प्राप्त होते। इसमे एक मात्र सामान्य सन्दर्भ प्राप्त होता है। वि० ध० मे तथा शिल्प-रत्न मे वर्णों के सम्बन्ध मे विशेष विस्तार है और जहा तक मानसोल्लास की बात है वहा तो यह वर्ण-विन्यास-प्रक्रिया और भी अधिक प्रकृष्ट रूप मे परिणत हो गई है।

वि० ध० मे वर्णों की दो कोटिया प्रतिपादित की गई है, पहली कोटि में रक्त शुभ्र पीत कृष्ण तथा हरित रगो को प्रधान रग Primary Colours माना है। दूसरी कोटि मे शुभ्र पीत कृष्ण नील तथा गैरिक (Myrobalam) ये जो भरत के नाट्य-शास्त्र मे प्रधान रग प्रतिपादित किए गये है, वे ही वि० ध० मे पाए गए है। शिल्प-रत्न और मानसोल्लास मे जिन पाच रगो का वर्णन किया गया है, उनमे भी कुछ वैमत्य है। शिल्प-रत्न मे शुभ्र रक्त, पीत (Suit) तथा श्याम माने गये हैं। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि मे शुभ्र शख से निर्मित, रक्त सीसा अथवा अलक्तक द्रव अर्थात् लाख अथवा लाल खड़िया यानी गेरू से बनता है। हरिताल (Green Brown) तथा श्याम ये ही इस ग्रन्थ मे माने गए हैं।

जहा तक वर्णों का मिश्रण है वह तो चित्रकार पर आश्रित है। वर्णों के विन्यास मे छाया कान्ति एव प्राज्ज्वलता तथा आकर्षण प्रदान करने के लिए स्वर्ण, रजत ताम्र पीतल रक्ताभ, सीसा, ईगुर, सिंदूर, टिन इत्यादि नाना द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार इस उपोदघात् के अनन्तर अब इस विषय पर विशेष विवरण प्रस्तोत्य हैं क्योंकि यह सब कुछ आ जाए तो आलेख्य चित्र के लिए वर्ण-विन्यास ही मौलि-मात्रायमान कर्म है। वर्ण-विन्यास मे मूल रग अथवा शुद्ध वर्ण, अन्तरित रग, अथवा मिश्र वर्ण-वर्ण द्रव्य, स्वर्ण-प्रयोग— ये सब विवेच्य हैं। पुन हम तूलिका लेखनी एव वर्तना, जो वर्ण-विन्यास (साहाय्य) के साधन हैं उनपर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

मूल-रग (शुद्ध-वर्ण)—हमने इस उपोदघात मे विष्णु-धर्मोत्तर आदि की वर्ण-तालिकाओ का सकेत किया ही है तथापि जहा विष्णु-धर्मोत्तर मे पाच मूल रगो की तालिका मिलती है वहा अन्य ग्रन्थो मे मूल रगो की सख्या केवल चार ही मिलती है। पाश्चात्य चित्र कला मे मूल रगो की सख्या तीन ही है अर्थात रक्त, पीत, नील। हमारे यहा शुक्ल को जोडकर चार की तालिका बना दी है। एक बात और विवेच्य है कि काला और नीला एक जैसा नही माना जा सकता। अभिलषिताथ चिन्तामणि मे जो नीली की परिभाषा दी गई है वह इस विभेद को हमारे सामने साक्षात उपस्थित कर देती है —

"केवलैव च या नीली भवेदिन्दीवरप्रभा

इस लिए यह नीली कृष्ण से एक प्रकार से बिल्कुल विभिन्न है, क्योकि कृष्ण कज्जल-सम कहलाता है। इस प्रकार इन पाच मूल रगो अर्थात शुद्ध वर्णों के पृथक पृथक चषक (प्याले) रखे जाते थे। इनका प्रयोग शुद्ध वर्णों तथा मिश्रित वर्णों दोनो के लिए किया जाता था।

वैसे तो अपराजित-पृच्छा मे भी चार ही मूल रग है, परन्तु उसकी नवीनता अथवा उदभावना यह है कि ये वर्ण नागर, द्राविड आदि चारो शैलिया पर आश्रित हैं। अत यह विवरण यहाँ पर न लेकर आगे के स्तम्भ (चित्र-शैलिया) मे लेगे। अब आइये अन्तरित रगो अथवा मिश्र-वर्णों पर।

अन्तरित-रग (मिश्र-वर्ण) —ये वर्ण वर्णों के परस्पर सयोजन अथवा मिश्रण से उत्पन्न होते है। अभिलषिताथ-चिन्तामणि का निम्न उद्धरण पढिये तो हमे इन मिश्रित वर्णों की कैसी सुषमा निखरती हुई देख पडेगी। शिल्प-रत्न तथा शिव-तत्त्व-रत्नाकर मे भी मिश्र वर्णो के बडे ही सुन्दर विवरण प्राप्त होते है। बाण की कादम्बरी पढिए तो वहा पर ऐसा मालूम पडता है कि सारे के सारे पन्ने मूल रग तथा मिश्रवर्ण दोनो से रगे पडे हैं। आज तक शायद ही किसी ने परम्परागत उक्ति— "बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' का ठीक ठीक अर्थ लगाया हो। बाण के मस्तिष्क मे सम्पूर्ण स्थावर-जगमात्मक ससार करामलकवत् था। अतएव यह उक्ति इस पारिभाषिक एव वैज्ञानिक चित्र-शास्त्र के परिशीलन से परिपुष्ट प्राप्त होती है। बाण ने तो गजब ढा दिया कि काले, पीले, हरे भूरे, लाल, नील सुनहरे, गेरुए सफेद कपोताभ आदि आदि शतश रगो की केलि इस कादम्बरी-क्रीडास्थली मे देखने को मिलती है। आगे इस अध्ययन के

परिशिष्ट भाग मे हम महाकवि कालिदास, बाण श्रीहर्ष आदि आदि अनेक कवियो के काव्यो की सदर्भ-तालिका का उद्धरण देंगे जिस से इस वर्ण-महिमा पर लक्षण एवं लक्ष्य मे पूरी पूरी समीक्षा हो सकेगी। अब हम यथा प्रतिज्ञात

यहा पर अभिलषितार्थ चिन्तामणि का उद्धरण प्रस्तुत करते है

शुद्धवर्णा —पूरयेद्वर्णकै पश्चात तत्तद्रूपानुरूपतः स्फुटम्।
उज्ज्वल प्रा नते स्थाने श्यामल निम्नदेशत ।।
एकवर्णार्पित कुर्यातारतम्यविभेदत ।
अथश्चेदुज्ज्वलो वर्णो घनश्यामलता व्रजेत् ।।
भिन्नवर्णेषु रूपेषु भिन्ना वर्ण प्रयुज्यते ।
मिश्रवर्णेषु रूपषु मिश्रो वर्ण प्रयुज्यत ।।
श्वेतषु पूरयेच्छख शोणेष दरद तथा ।
रक्तेष्वलक्तकरस लोहिते गरिक तथा ।
पीतेषु हरिताल स्यात्कृष्ण कज्जलमिष्यत ।
शुद्धा वर्णा इमे प्राज्ञाश्चत्वारश्चित्रसश्रया ।

मिश्रवर्णा —मिश्रान वर्णानितो वक्ष्ये वर्णसयोगसम्भवान् ।
दरद शखसम्मिश्र भवत्कोकनदच्छवि ।।
अलक्त शखसम्मिश्र धूमच्छाय निरूपितम् ।
हरिताल शखयुत मेरमत्व ? सदृशप्रभम् ।।
कज्जल शखसम्मिश्र धूमच्छाय निरूपितम् ।।
नीली शखेन सयुक्ता कपोताभा विराजते ।
राजावर्तस्य एवायमतसीपुष्पसन्निभ ।।
केवलैव हि या नीली नीलेन्दीवरप्रभा ।
हरितालेन मिश्रा नेञ्जायत हरिच्छवि ।।
गरिक हरितालेन मिश्रित गौरता व्रजत् ।
कज्जल गैरिकोपेत श्यामवर्ण निरूपितम् ।
अलक्तकेन समृष्ट कज्जल पाटल भवेत् ।
अलक्त नीलिकायुक्त क्वु वर्ण भवेत स्फुटम् ।।
एव शुद्धाश्च मिश्राश्च वर्णभेदा प्रकीर्तिता ।

रग-द्रव्य —विष्णु-धर्मोत्तर मे नाना-विध रग द्रव्यो का प्रतिपादन है— कनक रजत ताम्र, अभ्रक, राजावर्त (हीरनक—अर्थात हीरे की विराट-

देशोद्भवा विधा), त्रपु, हरिताल, सुधा, लाक्षा, हिंगुलक तथा नील और लाहा। विष्णु-धर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढें जिससे न केवल रग द्रव्यो की तालिका ही नही मिलेगी, प्रत्युत ये रग-द्रव्य किन किन श्रन्य द्रवो के सयोग एव मिश्रण से उत्पन्न होते है, यह भी यहा पर परशीलनीय है —

रगद्रव्याणि कनक रजत ताम्रमेव च ।
श्रभ्रक राजवर्त च सिन्दूर त्रपुरेव च ।।
हरिताल सुधा लाक्षा तथा हिंगलुक नप ।
नील च मनुजश्रेष्ठ तथान्ये म त्यनेकश ।।
देशे देश महाराज कार्यास्त स्तम्भनायुता ।
लोहाना पत्रविन्यास भवेद्वापि रसक्रिया ।।
सकट लोहविन्यस्तमभ्रक द्रावण भवन ।
एव भवति लोहाना लेखने कमयोग्यता ।।
श्रभ्रकद्रावण प्रोक्त सुरसेन्द्रजभूमिज ।
चम्पाकुयोऽथ बकुला निर्यासस्तम्भनाद्भवत् ।।
सर्वेषामव रगाणा सिन्दूरक्षीर इष्यते ।
मातगदूर्वारसप वद्धै सस्तम्भित चित्रमुदारपुन्द्धै ।
धौत जलेनापि न नाशयत् तिष्ठत्यनेकान्यपि वत्सराणि ।।

श्रत यहा पर जो विशेष विवचनीय विषय है वह यह है कि विष्णु-धर्मोत्तर का राजावन्त क्या चीज है—कौन सा रग है ? परशियन चित्र-पदावली मे एक लाजवर्दी नाम बड़ा विश्रुत है । डा मोती चन्द्र ने इस रग को परशिया की देन माना है, परन्तु मेरी दृष्टि म यह धारणा भ्रान्त है । राजाव त प्रथवा राजावत जो सस्कत तत्सम शब्द है उसी का तद्भव एव श्रपभ्रश लजावर है जो श्राज भी उत्तर प्रदेश के पूर्वी इलाकों मे विशेषकर गोरखपुर म नील (Blue par-Excellence) माना जाता है । श्रजन्ता के चित्रो मे जो इस राजावत (नीली) का प्रयोग प्रत्यक्ष दिखाई पडता है वह हमारे देश की ही विभूति है। उसमें परशिया (फारस) का कोई श्रेय नही । इसी प्रकार बगाल के दशवी तथा दशमोत्तर शताब्दियो के प्रज्ञापारमिता-चित्रो मे भी इस राजावन्त का ही परम-कौशल है । कल्प-सूत्र तथा कालकाचार्य-कथा जो हस्त-लिखित ग्र थ हैं श्रौर जो इस नीले रग (राजावन्त) से रगे गये हैं वे भी सब हमारी इस रग-परपरा के निदर्शन हैं । श्रब श्राइये वर्ण विन्यास मे स्वर्ण-प्रयोग पर ।

स्वर्ण-प्रयोग –चित्र, जैसा हम ने पहले ही प्रतिपादित किया है, वह आलेख्य और तक्षण दोनो का प्रतिनिधित्व करता है। हमारे प्रतिमा-विज्ञान मे प्रतिमा-द्रव्य-वर्ग पर दृष्टिपात करे तो धातुजा अथवा धातुस्था प्रतिमाओ का कितना विलास था। अत प्राचीन भारत मे प्रतिमा और आलेख्य दोनो मे धातु का प्रयोग बडे परिमाण मे किया जाता था। जहा तक चित्र का सम्बन्ध है, वहा स्वर्ण (The metal par exvellence) का प्रयोग प्राचीन चित्रकारो की एक गहरी हावी थी जिस से चित्रो की अभिख्या, प्राज्ज्वलता कान्ति, दीप्ति, वर्ण-प्रकर्षता अपने आप निखर उठती थी। स्वर्ण प्रयोग के द्वारा इन सभी चित्रो—कुड्य फलक तथा पट मे चित्र्य की वेष-भूषा आकृति—अगोपाग सभी अपने आप निखर उठते थे।

गान्धार की बुद्ध-प्रतिमाओ मे स्वर्ण-प्रयोग सिद्ध होता है। कहा तक अजन्ता, एलोरवा वाघ बादामी आदि चित्र-पीठों मे स्वर्ण का प्रयोग हुआ कि नही यह एक समीक्ष्य विषय है। अब आइये स्वर्ण-प्रयोग की प्रक्रिया पर। यह प्रक्रिया द्विविधा है —

१ पत्र-विन्यास तथा
२ रस-क्रिया।

पत्र-विन्यास –पुराने चित्रो को देखेंगे तो उनमे स्वर्ण-पत्रो का प्रयोग होना आया हैं।

रस-प्रक्रिया –स्वर्ण को पहले तपाया जाता था, एव जब वह द्रव रूप मे परिणत हो जाता था, तो उसमे फिर अभ्रक के साथ कुछ क्वाथ एव निर्यास भी मिलाये जाते थे जैसे—चम्पा-क्वाथ, वकुल क्वाथ।

अभिलषितार्थ-चिन्तामणि तथा शिल्प-रत्न मे वर्णो मे स्वर्ण-योग तथा स्वर्ण-लेख-विधि के बडे सुन्दर विवरण प्राप्त होते है जो यहा पर उद्धरणीय है—

शुद्ध सुवर्णमत्यर्थं शिलाया परिपोषितम् ॥
कृत्वा कास्यमये पात्रे गालयेत्तन्मुहुर्मुहु ।
क्षिप्त्वा तोय तदालोड्य निर्हरेत्तज्जल मुहु ॥
यावच्छिन्नारजो याति तावत्कुर्वीत यत्नत ।
यनत्वा मस्टण हेम न याति सह वारिणा ॥
आस्ते तदमल हेम बालार्करुचिरच्छवि ॥
तस्त्तक हेमज स्वल्पवज्रलेपेन मेलयेत ।

Vrdhi was as intensely studied by the ancient Indian painters as was perspective by the early Italian masters Pramana on the other hand was the standardized canon, valid for the upright standing figure and to be modified by every bent and turn

वतना की इस मौलिक पृष्ठ-भूमि के विश्लेषण के उपरान्त अब हम उसके प्रकारो पर उतरते हैं।

वतना-प्रभेद—त्रिविधा

१ पत्रजा (Cross lines)

२ एरिक (Stumping)

३ विन्दुज (Dots)

कोई भी चित्रकार चित्र्य के लिए प्रथम रेखा-वतन करता है। प्रथम रखा या तो पीताभ या रक्ताभ खीची जाती है। विष्णुधर्मोत्तर तथा भरत-नाट्य-शास्त्र दोनो ही यही समथन करते हैं। विष्णुधर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढिये—

'स्थान प्रमाण भूलम्बो मधुरत्व विभक्तता'

इससे यह पूर्ण सिद्ध होता है कि चित्र मे चित्र्य के सभी अवयवो आदि की प्रोज्ज्वलता क लिए ये सब प्रमाण लावण्य, विभक्तता आदि विन्यास अनिवाय हैं। महाकवि कालिदास की निम्न उपमा-उत्प्रेक्षा (दे० कुमार-सभव) को पढिए।

उन्मीलित तूलिकयेव चित्र वपुर्विभक्त नवयौवनेन'

यहा पर 'विभक्त' शब्द कितना मार्मिक है—जो चित्र-सिद्धान्त को कितना ऊचे उठाता है। अन्त मे यह भी समीक्ष्य है कि वतना के द्वारा वर्ण-विन्यास ही चित्र्य का वैषयिक एव विषयिक (Subjective and Objective) प्रस्फोटन कर देता है। आकाश का चित्रण प्राकृतिक अर्थात विषयिक अथवा आनुमानिक अर्थात् वैषयिक दोनो सभव हैं—वह सब वतना पर ही आश्रित है।

चित्र-निर्माण-रूढिया
(Conventions in Painting)

प्रतीकात्मक-रूढि-अवलम्बन-परम्परा —चित्र्य को कैसे चित्रित किया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर मे आदशवाद (Idealism) तथा यथाथवाद (Realism) दोनो का सहारा लिए बिना शास्त्रीय चित्र-निर्माण-रूढियो पर पूर्ण प्रतिपादन असम्भव है। सभी ललित कलाये काव्य, नाटक सगीत, नृत्य एव चित्र आदर्शवाद के उत्तुग प्रकष से ही नही प्रभावित हैं, वरन् सास्कृतिक

परम्पराओ एव रुढियां का भी वहा पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पडता है। जिस देश की जैसी सस्कृति एव सभ्यता, जैसा जीवन एव रहन सहन, जैसी विचार-धारा तथा परम्पराय एव रुढिया वैसा ही उस देश की कलाये। यथार्थवाद कोई फोटोग्राफिक अर्थात प्रातिबिम्बिक प्राभास नही न तो आदर्शवाद यथार्थवाद का पूर्ण घातक या विरोधक। इन ललित कलाओ मे यथार्थवाद भी अपनी अपनी कलाओ के द्वारा अवश्य प्रभावित रहता है और आदर्शवाद उनको ऊपर उठाता है, तभी इन दोनो के मिश्रित प्रभाव से ये कलाए वास्तव म प्रोल्लसित एव प्रवृद्ध बनती हैं। तक्षण का कौशल (देखिए सजीव-प्रतिमाए) चित्रकार का दाक्ष्य (देखिये सजीव चित्र) सब उपर्युक्त उपोद्घात का समर्थन करते हैं। शिशुपाल-वध (३ ५१) का श्लोक पढिये—जहा माजार प्रतिमा वास्तव म सजीव मार्जार का सा वर्णन प्राप्त होता है।

इसी प्रकार रघुवश (१६ १६) का श्लोक पढिये वहा भी सिंह हाथियों को मानो सजीव सा मार रहे हैं। इसी प्रकार अन्य नाना साहित्यिक एव पुरातत्वीय सन्दर्भ एव निदर्शन भी कलायें यथार्थवाद का प्रत्यक्ष दर्शन करा देते हैं। चित्रो के विद्ध अविद्ध सत्य वैणिक आदि वर्गो पर हम ऊपर लिख चुके हैं। इनमे विद्ध या सत्य एक प्रकार से दर्पणवत यथार्थता का प्रतिबिम्बन करते हैं। इस प्रकार के चित्र्य-चित्रण वास्तव मे प्रमाण, भू-लम्ब, सादृश्य भाव योजना वर्णिका भग एव रूप-भेद इन षडगो से ही यह प्रोल्लास प्रथित होता है। शिवतत्व-रत्नाकर तथा महाभारत के निम्न प्रवचन पढे तो इस उपोद्घात का अपने आप पूर्ण समर्थन प्राप्त हो जाता है —

> पूरयेद्वर्णत पश्चात्तत्तद्रूपोचित यथा।
> उज्ज्वल प्रौ नते स्थाने श्यामल निम्नदेशत ।
> एकवर्णेऽपि त कुर्यात्तारतम्यविशेषत । शि० र०
> प्रकीर्णे चित्रपरिचर्ये यथा भ ...ो व्यासस्य —
> 'अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्ति विचक्षणा ।
> समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जना ॥"

इसी प्रकार के काव्य लक्ष्योदाहरण जसे हेमचन्द्र के काव्यानुशासन म धनपाल की तिलक-मञ्जरी मे भी यही चित्र धारणा है। ति० म० का निम्न पद पढें —

"दिनकरप्रभेव प्रकाशितव्यक्तनिम्नानतविभागा"

इसी प्रकार जैसा ऊपर कहा है अन्य साहित्यिक सन्दर्भों मे भी ऐसे अनेक और उदाहरण मिलते हैं। इस लक्षण का काव्य-मय विलास ही नही, स्थापत्य-निदर्शनो म जस अजन्ता, बाघ, सित्तानवसल अथवा तजौर आदि प्राचीन प्रासाद-चित्र पीठो पर भी यहन महा विलास एव प्रोल्लास प्राप्त होता है। अत शिल्प-ग्रन्थों मे क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त का जो प्रतिपादन है, वही स्थापत्य मे भी पूर्ण प्रतिबिम्बन है।

अब प्रश्न यह है कि विना रूढि-अवलम्बन (Adopting the Technique of Conventions) यह क्षय-वृद्धि, सादृश्य, भूलम्ब एव प्रमाण आदि षडङ्ग-चित्र का पूर्ण विधान कैसे सम्भव हो सकता है ? विना रूढि-अवलम्बन (Conventions) के यह सर्व-प्रमुख अंग (क्षय-वृद्धि) मुखरित ही नहीं होता। सत्य तो यह है कि रूढि-अवलम्बन ही क्षय-वृद्धि का प्राण है, जिस से यथार्थवादी चित्र पनप सका। चित्र्य प्रतिमा के केश कैसे दिखायें, आखों का स्पन्दन कैसे विलसित हो, शरीर का घेरा, मोटाई ऊचाई विशालता आदि प्रमाण कैसे अंकित हो सकते हैं—इन सब के लिए यह सिद्धान्त सापेक्ष्य-रूढि-अवलम्बन से तात्पर्य प्रतीकत्व कल्पन है। जिस प्रकार काव्य म ध्वनि का Suggestion कहते हैं, उसी प्रकार यह प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन चित्र मे ध्वनि ही है। जिस प्रकार काव्य म शब्दालकारादि की चमक कवल उसको कान्ति तो दे सकती है परन्तु व्यञ्जना नही। व्यञ्जना ही उसे नीचे से उठा कर उत्तुग शिखर पर केलि करा देती है। इसी प्रकार चित्र म यह प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन एक प्रकार की व्यञ्जकता ही है जो चित्र की एक मात्र मदुता ही नही प्रदान करती वरन् नाना व्यग्यो का प्रेक्षकों को आभास भी दिलाती है।

विद्वान् स्मरण करें कि जिस प्रकार काव्य म व्यक्ताव्यक्त-कामिनी-कुच-कलश के समान अलकार एव ध्वनि की विनिवेश-समीक्षा है उसी प्रकार प्रतीकात्मक-रूढि-अवलम्बन-परम्परा चित्र मे भी यही विलास उपस्थित करती है।

प्रतिमा-स्थापत्य को भी देख, जिनमे मुद्राओ (शरीर, पाद, हस्त मुद्राओं) के द्वारा समस्त ज्ञान, वैराग्य, उपदेश, आशीष, भर्त्सन, मगल, वरदान आदि सभी इसी प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन से सब व्यञ्जित हो जाता है। अस्तु, इस उपोद्घात् का, हम विष्णु-धर्मोत्तर तथा स० सू० के निम्न प्रवचन से पूरा का पूरा समर्थन स्वत प्राप्त कर जाते हैं —

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रलोक्यानुकृति स्मृता।

दृष्टयश्च तथा भावा अगोपागानि सर्वश ।।
कराश्च ये महा (मया?) नर्त्त पूर्वोक्ता नृपसत्ताम ।
त एव चित्रे विनेया नत्त चित्र पर मतम ।।
हस्तेन सूचयन्नथ दष्टया च प्रतिपादयन् ।
सजीव इति दृश्यत सर्वाभिनयदर्शनात् ।।
आगिके चैव चित्रे च प्रतिमासाधनमुच्यते ।

इस उपोदघात क अन्त मे हमे पुन चित्र के सावभौमिक क्षेत्र पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है —

जगमा स्थावराश्चव ये सन्ति भुवनत्रये ।
ततत्स्वभावतस्तेषा करण चित्रमुच्यते ।।

जब चित्र का इतना बडा विस्तार है तो बिना रूढियो के अवलम्बन, बिना प्रतीकत्व-कल्पन यह सब कैसे चित्र्य हो सकता है ?

रूप-निर्माण —विष्णु-धर्मोत्तर मे रूढि निर्माण का बडा ही वहुत प्रतिपादन है। दैत्य, दानव यक्ष किन्नर देव, गन्धव, ऋषि, राजे महाराजे अमात्य, ब्राह्मण किस प्रकार से चित्र्य हैं और उनके चित्रण म कौन कौन से सिद्धान्त जैसे प्रमाण, सादश्य, क्षय वद्धि एव प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन आवश्यक हैं—यह सब विधान निम्न तालिका से स्वत स्पष्ट हो जाता है —

	चित्र	वैशिष्टय
१	ऋषि-गण	जटाजूटोपशोभित, कृष्ण-मग चम धारण किए हुए दुबल एव तेजस्वी ,
२	देव तथा गन्धव	शेखर-मुकुट धारण किए हुए , टि० श्री शिव राममूर्ति ने वि० ध० के 'शिखिरैं रूपशोभिता " को नही समझा , अतएव अर्थ नहीं लगा सके। यह पद भष्ट है अत यह शेखरैरूपशोभिता ' होना चाहिए—देखिए मानसार वहा पर शवरो की नाना विधाओं मे शेखर-मुकुट भी एक विधा है ।
३	ब्राह्मण	ब्रह्मवचस्वी एव शुक्लाम्बरधारी।
४	मन्त्री साम्वत्सर तथा पुरोहित	ये मुकुट-विहीन एव सर्वालकरो से युक्त तथा ठाठ बाठ के कपडो से परिवेष्टित हो, इनके साफा जरूर बधा हुआ होना चाहिए ,

५	दैत्य तथा दानव	भकुटि-मुख, गोल-मटोल तथा गोल आख वाले, भयानक एव उद्धत-वेश-धारी,
६	गन्धव तथा विद्याधर	सपत्नीक, रुद्र प्रमाण, माल्यालकार-धारी खड्ग-हस्त, भूमि पर अथवा गगन मे ,
७	किन्नर—द्विविध	नवव-कृत्र (नरमुख) तथा अश्वमुख—दोनो ही रत्न-जटित, सर्वानिकार-धारी एव गीत-वाद्य-समायुक्त तथा द्युतिमान,
८	राक्षस	उत्कच, विकलाक्ष एव विभीषण,
९	नाग	देवाकार फण-विराजित,
१०	यक्ष	सर्वालिकारलकृत टि० सुरो के प्रमथ-गण तथा पिशाच ये दोनों प्रमाण-विवर्जित हैं ।
११	देवो के गण	नाना-सत्व-मुख, नाना-वश-धारी, नाना आयुध-धारी नाना-क्रीडा-प्रसक्त, नाना कम-कारी, टि० वैष्णव-गण एक ही कोटि के चित्र्य हैं। विशेषता यह है कि वैष्णव गण चतुर्धा हैं — वासुदेव-गण वासुदेव को सकषण गण सकपण को, प्रद्युम्न-गण प्रद्युम्न को तथा अनिरुद्ध गण अनिरुद्ध को अनुगमन करते हुए चित्र्य हैं। ये सब अपने देवता का विक्रम प्रदर्शित करें। इनकी काति नीलोत्पल-दल के समान हो और चन्द्र के समान शुभ्र हो, इनके आकार मरकत-सदृश हो और प्रभा सिन्दूर के सदृश हो,
१२	वेश्यायें	वेश उद्धत एव श्रगार-सम्मत,
१३	कुल-स्त्रिया	लज्जावती, टि० दैत्यो, दानवो और यक्षों की पत्निया, *रूपवती बनानी चाहिए । विधवायें पलित-सयुता,* शुक्ल-वस्त्र-धारिणी, सर्वालकार वर्जिता,
१४	कञ्चुकी	वृद्ध;
१५	वैश्य तथा शूद्र	वर्णानुरूप वेश-धारी,

१६	सेनापति	महाशिर, महोरस्क, महानास, महाहनु, पीन-स्कन्ध, भुज-ग्रीव, परिमाणोच्छ्रित त्रितरग-ललाट, व्योम-दृष्टि, महाकटि एव दप्त ,
१७	योधा-गण	भृकुटी-मुख, किञ्चन् उद्धत-वर्ण एव उद्धत-दशन ;
१८	पदाति	उछलती हुई गति स चलने वाले और आयुधो को धारण किए हुए—विशेषकर खड्ग-चर्म धारण किए हुए चित्र्य हैं। विशेष विशेषता यह है कि उनका कर्णाटक कोटि का होना चाहिए ,
१६	धनुर्धारी	नग्न जघा वाले, उत्तम बाण लिए हुए, जूते पहने हुए
२०	पीलवान	श्यामवर्ण, अलङ्कृत जटधारी ,
२१	घुडसवार	उदीच्य वेश
२२	बन्दि-गण	शाही वेष वाले, परन्तु सिरा-दर्शित-कठ तथा उन्मुख दृष्टि ,
२३	आह्वानक	कपिल एव केकर के समान आख वाले ,
२४	दड-पाणि (द्वार-पाल)	प्राय दानव-सकाश ,
२५	प्रतीहार	दड-धारी, आकृति एव वेश न अधिक उद्धत न शान्त, बगल मे खड्ग तथा हाथ मे दण्ड ,
२६	वणिक्	ऊचा साफा बाघे हुए,
२७	गायक एव नतक	शाही वेष धारी
२८	नागरिक (पौरजानपद)	शुभ्र-वस्त्र-विभूषित, पलित केश एव निज भूषणो से विभूषित, स्वभाव से प्रिय-दशन, विनीत एव शिष्ट ,
२६	मजदूर (कमकर)	स्व-स्वकर्म-व्यग्र,
३०	पहलवान	उग्र, नीच-केश, उद्धत पीन-ग्रीव, पीन-शिरोधर, पीन-गात्र तथा लम्बे ,
११	वृषभ एव सिंह आदि तथा अन्य सत्व-जातिया	ये सब यथा-भूमि-निवेश विवश्य है ,
३२	सरितायें	स-शरीर-चित्रण मे वाहन प्रदर्शन अनिवाय है पुन हाथो मे पूर्ण कुम्भ लिये हुए तथा घुटनो को नचाए हुए

३३	शैल	मूर्धा पर शिखर-प्रदर्शन आवश्यक है,
३४	पथ्वी (भू-मण्डल)	सशरीरा, सद्वीप-हस्ता, टि० श्री शिव राममूर्ति एव डा० क्रैमरिश दोनो इन विद्वाना ने विष्णु-धर्मोत्तरीय इस लक्षण को नही समझा क्योकि हमारी परम्परा मे पथ्वी, देवा के रूप मे विभावित है, अत जब वह चतुर्भुजा या अष्ट-भुजा गौरी, लक्ष्मी या अष्टमगला के रूप मे विभाव्य है तो उसके साता हाथो मे सातो द्वीप करामलकवत स्वय प्रदश्य है ।
३५	समुद्र	रत्न-पात्रो से उसके शिखर-रूपी हाथ प्रदश्य हैं, प्रभा-मडल बनाकर सलिल-प्रदशन विहित हो जाता है,
३६	निधिया	कुम्भ, शख पद्म आदि लाछनो सहित इसके दिव्य (शख पद्म, निधि आदि) अवयव प्रदश्य हैं,
३७	आकाश	विवण (Colourless), खगाकुल,
३८	दिव (Heavens)	तारका-मडित,
३९	धरा—त्रिविधा	१ जागल-(जगली), २ अनूपा (दलदली), ३ मिश्रा यथा-नाम तथा-गुणा ।
४०	पवत	शिला-जाल, शिखर, धातु, द्रुम, निर्झर, भुजग आदि चिह्नो से चिह्नित,
४१	वन	नाना-विध वृक्ष-विहग-श्वापद-युक्त,
४२	जल	अनन्त मत्स्यादि-कच्छपो एव जलीय जन्तुओ के द्वारा विभावित,
४३	नगर	चित्र विचित्र-देवतायतनो, प्रासादों, आपणो (बाजारों) एव भवनों तथा राज-मार्गों से सुशोभित,
४४	ग्राम	उद्यानो से भूषित और चारो ओर राहों से युक्त,
४५	दुग	वप्र, उत्तुग अट्टालक आदि से परिवेष्टित,
४६	आपण-भूमि	पण्य-युक्त—दुकानो से घिरी हुई,

४७	आपान-भूमि	पीने वाले नरो से आकुल,
४८	जुवारी	उत्तरीय-विहीन एव जुआ खेलते हुए,
४६	रण-भूमि	चतुरग सेना से युक्त भयानक लडाई लडते हुए योधा-गणो से और उनके अगो मे रुधिर की धारा बहती हुई और शवो से पूरित,
५०	श्मशान	जलती हुई चिता से प्रदश्य हैं जहा पर लकडी के ढेर और शव भी पडे हो,
५१	मार्ग	सभाव उष्टो सहित,
५२-	रात्रि (अ)	चन्द्र, तारा, नक्षत्र चौर उलूक आदि से एव सुप्तो से,
	(ब)	प्रथमाव-रात्रि अभिसारिकाओ स,
५३	उषा	सारूणा, म्लान दीपा कुक्कुट-रुता,
५४	सध्या	नियमी ब्राह्मणा से,
५५	अधरा	घर जाते हुए मनुष्या की गति से,
५६	ज्यात्स्ना	कुमुदो के विकास एव चन्द्रमा से,
५७	सूय	क्लेश तप्त प्राणियो स,
५८	बसन्त	फुल्ल-वृक्षो मे कोकिलाओ भ्रमरो प्रहृष्ट नर-नारियो से,
५६	ग्रीष्म	क्लान्त नरो से छायागत मगो स, पकमलिन महिषो से शुष्क-जलाशय-चित्रण से,
६०	वर्षा	द्रुम-सलीन पक्षियो स गुहा-गत सिंह-व्याघ्रादि श्वापदा से, जल-घन बादलो से चमकती हुई बिजली से,
६१	शरद	फलो से लदे हुए वक्षो से, पक हुए खेतो से हसादि पक्षियो स सुशोभित सलिलाशयो से,
६२	हेमन्त	सारो की सारी सूनी (लूनी) धरती से, धुधले वातावरण स (सनीहार-दिगन्तकम),
६३	शिशिर	हिमाच्छिन्न दिग-दिगन्त से वृक्षो में पुष्प और फला स और ठिठुरते हुए प्राणिया से।

टि० —विशेष प्रवचन यह है कि वृक्षो के फलो-फूलो पर एकमात्र दृष्टिपात एव जना का आनन्दातिरेक—यही चिह्न ऋतुओ के लिये काफी है।

इस तालिका के उपरान्त अब इस स्तम्भ म यह भी अन्त म समीक्ष्य एव विवच्य है कि यह प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन एक-मात्र क्षय-वृद्धि एव सादृश्य तथा मूलम्बादि विभागो पर ही आश्रित नहीं है, प्रमाण भी उसी प्रकार अनिवार्य है।

देव ऋषि, गन्धर्व दैत्य, दानव, राज-महाराजे, अमात्य तथा सावत्सर, पुरोहित आदि सब भद्र-प्रमाण (दे० अनुवाद एव मूल—पच-पुरुष-स्त्री लक्षण) म चित्र्य है। विद्याधरो की रुद्र-प्रमाण मे, किन्नर, नाग, एव राक्षस मालव्य-प्रमाण म करना चाहिए। जहा तक वेश्याओ एव लज्जावती महिलाओ का प्रश्न है, वे रुचक एव मालव्य-प्रमाण मे क्रमश चित्र्य हैं। वैश्य भी रुचक मान मे प्रदर्शित हैं। शूद्र-मान शशक-मान विहित हैं। यह ग्रन्थ भी कुछ विशेष क्रमिक नही है। जहा तक अन्य शिल्प ग्रन्थ जैसे कामिकागम आदि, वहा मान-प्रमाण ताल मान पर आश्रित हैं।

चित्र रस एव दृष्टिया

पीछे के स्तम्भो मे रेखा-करण, वर्तना-करण एव वर्ण-विन्यास इन सब पर कुछ न कुछ प्रतिपादन हो चुका है। निम्न लिखित प्रवचन पढिए —

'रेखा प्रशसन्त्याचार्या वर्णाढ्यमितरे जना
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्तना च विचक्षणा ॥"

तथापि वर्ण-विन्यास एक प्रकार से चित्र-कार और चित्र-दृष्टा दोनो के मन को अवश्य अभिभूत करता है। इसी मन स्थिति मे चित्र-कार एव चित्र-द्रष्टा दोनो की कल्पनाओ का स्वत जन्म हो जाता है। अत काव्य और चित्र मे विशेष अन्तर नही है।

वैसे तो चित्र की विधाओ पर हमने मानसोल्लास और शिल्प-रत्न के रस-चित्रो का भी वहा पर प्रस्ताव किया है तथापि इन ग्रन्थो की दृष्टि म रस-चित्र या तो द्रव-चित्र हैं या भाव चित्र है। भरत के नाट्य-शास्त्र मे सबसे बडी विशेषता यह है कि कोई भी रस, यदि किसी चित्र मे चित्रित करना है तो उस को अभिव्यञ्जक वर्ण-विन्यास स प्रतीत करना चाहिए। शृगार का अभिव्यञ्जक श्याम वर्ण है, हास्य का शुभ्र, करुण का ग्रे (Gray), रौद्र का रक्त, वीर का पीताभ शुभ्र, भयानक का कृष्ण, अद्भुत का पीत तथा बीभत्स का नीला है।

चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो म समरागण-सूत्रधार ही एक मात्र ग्रन्थ है जिसमे चित्र-रसो एव चित्र-दृष्टियो का वर्णन है। इस ग्रन्थ के लेखक भोजदेव ने शृगार

प्रकाश से हम परिचित ही है और सस्कृत साहित्य म महाराज भोजदेव की बडी देन है और वे एक ऊचे साहित्य-शास्त्री (Aesthetician) थे। अतएव यह अध्याय उसी दिशा मे उनकी देन है। इस अध्याय का निम्न प्रवचन पढिए —

रसानामथ वक्ष्यामा दृष्टीना चेह लक्षणम।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते॥

अस्तु इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम इन रसों एव रस-दृष्टियो की तालिका पाठको के सामने रखते हैं। यद्यपि अनुवाद-खड म रस-दृष्टि-लक्षण-शीर्षक अध्याय म इन सभी रसो एव रस-दृष्टियो का प्रतिपादन वहा है ही तथापि रस का सरलीकरण एव नवीन-रूप देकर यह दो तालिकाए उपस्थित की जाती है

एकादश चित्र रस

	सज्ञा	शरीरिक वृत्ति	मानसिक वृत्ति
१	शृगार	स-भ्रूकम्प प्रमातिरेक	ललित चेष्टायें
२	हास्य	अपाग विकसित अधर स्फुरित,	लीला
३	करुण	अश्रुविलित कपाल आस्य नाक-सकुचित	चिन्ता एव सताप
४	रौद्र	आखें लाल ललाट निर्माजित अधरोष्ठ दन्त-दष्ट	
५	प्रेम	हर्षातिरेक सम्पूर्ण शरीर पर—अर्थलाभ सुतोत्पत्ति एव प्रिय-दर्शन से	
६	भयानक	लोचन उदभ्रान्त, हृदय-सक्षोभ यह सब वैरि दर्शन एव वित्रास से	
७	वीर		धैर्य एव वीर्य
८			
९	बीभत्स		
१०	अदभुत	तारकायें स्तमित अथवा प्रफुल्लित किसी असभाव्य वस्तु अथवा दर्शन से,	
११	शान्त	समस्त शरीरावयव अविकारि,	अराग एव विराग

अष्टादश चित्र-रस-दृष्टियाँ

क्रम स०	सज्ञा	आश्रय रस
१	ललिता	शृ गार
२	हृष्टा	प्रेमा
३	विकसिता	हास्य
४	विकता	भयानक
५	भकुटी	
६	विभ्रान्ता	श्रगार
७	सकुचिता	श्रगार
८		
९	ऊर्ध्वगता	
१०	योगिनी	शान्त
११	दीना	करुण
१२	दप्टा	वीर
१३	विह्वला	भयानक तथा करुण
१४	शकिता	भयानक तथा करुण

इस स्तम्भ म यह भी सूच्य है कि ये रस तथा रस दृष्टिया सस्कृत काव्य-शास्त्र की कापी नही हैं। इन रसों और रस-दृष्टियों के लक्षण मे अपने आप सिद्ध है कि ये लक्षण बहुत काफी परिमार्जित एव परिवर्तित सस्करण मे रक्खे गये हैं जिससे भाव चित्र-प्रतिमाओ मे भी विहित हो सकें। यह हम जानते ही हैं कि काव्य मे भावो का स्थान गौण है और रसो का स्थान मूर्धन्य है। बात यह है कि चित्र मे भावो पर ही शारीरिक एव मानसिक दोनो ही स्फूर्तिया क्रीडा करती हैं और यही चित्र का परम कौशल है।

अस्तु, अब हम चित्र-कला मे इस साहित्य सिद्धान्त (Aesthetics) के परिवृत्त मे दो प्रश्नो को लेना है। यद्यपि सस्कृत-साहित्य शास्त्रीय अथवा सस्कृत-काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से रसो का साक्षात सम्बन्ध मानवो (नर, नारी एव शिशु) से ही है और उन्हीं के दिव्य रूपो यथा देव, दानव दैत्यो से ही है, परन्तु इस चित्र-कला मे रसो को इस परिमित कोटि से बहुत आगे बढा दिया गया है और इसका एक-मात्र श्रेय इसी ग्रथ को है। पाठक इस स० सू० के अध्याय का निम्न प्रवचन पढे —

इत्यते चित्र-सयोगे रसा प्रोक्ता मलक्षणा ।
मानुषाणि पुरस्कृत्य सवसत्वेषु योजयेत ॥

मरे लिए इस वाक्य ने इस अध्याय में बडी प्ररणा प्रदान की। अतएव मैंने अपने अग्रेजी ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) मे इस वाक्य की सराहना करते हुए निम्न समीक्षा की है जो पाठको के लिए पठनीय है। यहा पर यह उद्धृत की जाती है —

" Two important points in relation to the aesthetics in the pictorial art still need to be expounded Firstly all these rasas though characteristic of only human beings—men women, and children and in their likeness, the anthropomorphic forms of the gods and demi gods and demons—they have an application to all sentient creations-Manusani Puraskrtya Sarvasatvesu Yojayet 82 13 This statement goes to the very core of the art and shows that if birds and animals in paints could be shown manifesting the sentiments, it is realy the master-piece, the supreme achivement of the artist It becomes a new creation, a superio creation to that of Brahma, the Primordial Creator Himself If it is through the symbolism of Mudras—hand poses bodily poses and the postures of the legs the mute gods speak to us giving their vent to the sublimest of thoughts and noblest of expressions, these so called brutes can also become our co sharers in the aesthetic experience It is the marvel of the art If poetry can create an idealistic world full of beauty and bliss alone, the painting, her sister must also follow the suit "

अब आईये एक तुलनात्मक समीक्षा की ओर जिसमे हम नाटय काव्य, रस और ध्वनि सभी को लेकर इस चित्र-कला की समीक्षा करेंग।

चित्र-कला नाटय-कला पर आश्रित है —विष्णु धर्मोत्तर मे मार्कण्डेय और वज्र के सवाद म चित्र-कला की मौलिक भित्ति वास्तव मे नाट्य-कला है जो इस सवाद से स्वत प्रकट —

मार्कण्डेय उवाच—नृत्य-शास्त्र के ज्ञान के बिना, चित्र-विद्या के सिद्धान्तों को सन [illegible] भी कठिन है, इस लिए हे राजन इस पृथ्वी का कोई भी काय इन दोनो [illegible] बिना असम्भव है"

वज्र उवाच—ओ ब्राह्मण ! नृत्य-कला और चित्र कला के सम्बन्ध में मुझे पूरी तरह से समझाइये क्योंकि मैं भी यह मानता हूँ कि नृत्य-कला के सिद्धान्तों में चित्र कला के सिद्धान्त स्वयं गतार्थ है।

मार्कण्डेय पुनरुवाच—राजन् ! नृत्य का अभ्यास किसी के भी द्वारा दुष्कर है, जब तक वह संगीत को नहीं जानता तो फिर बिना संगीत के नृत्य का आविर्भाव ही असम्भव है।

अतएव इस विष्णुधर्मोत्तरीय महान विभूति का अनुगमन करते हुए महाराजाधिराज भोजराज इस समन्वय-दृष्टि में नृत्य-नाट्य-संगीत की भूमि पर पल्लवित पुष्पित एवं फलित चित्र विद्या को काव्य और साहित्य के प्लेटफार्म पर लाकर खड़ा कर दिया है। इस रसाध्याय के निम्न प्रवचन पढ़िये —

> हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन्।
> सजीव इव दृश्येत सर्वाभिनयदर्शनात् ॥
> आंगिकं चैव चित्रं च प्रतिमासाधनमुच्यते।
> (भवन्त्यायत ?) स्तस्मादनयोश्चित्रमाश्रितम् ॥
> प्रोक्तं रसानामिदमत्र लक्ष्म दशा च संक्षिप्ततया तत्।
> विनाय चित्र लिखता नराणां न सन्ति यानि मन कदाचित्।

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों की अवतारणा से यह प्रकट हो गया है कि चित्र नाट्य पर आधारित है। मेरी दृष्टि में तो नाट्य तथा चित्र दोनों ही अन्योन्याश्रयी हैं। चित्र नाट्य का एक दृश्य है और नाट्य चित्रों की कड़ी (Succession of citras) है।

विष्णुधर्मोत्तर का पूर्वोक्त प्रवचन (विना तु नृत्य शास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदमित्यादि) पढ़े तो जिस प्रकार नाट्य 'अनुकरण' पर आधारित है उसी प्रकार चित्र भी अनुकरण पर ही आधारित है। पुनः जिस प्रकार नाट्य में हस्त-मुद्राएं अनिवार्य है, उसी प्रकार चित्र-शास्त्र एवं प्रतिमा-शास्त्र में भी इन मुद्राओं—शरीर-मुद्राओं (ऋज्वागतादि) पाद मुद्राओं (वैष्णवादि स्थानक आदि) तथा हस्त मुद्राओं (पताका आदि) का भी इस चित्र-कला एवं प्रतिमा-कला में सामान्य अंग है (दे० समरांगण-सूत्रधार का परिमार्जित संस्करण एवं अनुवाद षष्ट पटल)। यथाप्रतिज्ञात अब विष्णु-धर्मोत्तरीय प्रवचन को सामने रखता हूँ —

> बिना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्।
> यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता ॥
> दृष्टयश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वशः।

कराश्च य महान्तरो पूर्वोक्ता नृपसत्तम ॥
त एव चित्र विनया नत्त चित्र पर मतम

इन दोनो सदर्भों की अवतारणा के द्वारा न यह स्वत सिद्ध हो गया है कि चित्र किस प्रकार से मुद्राओ के द्वारा बहुत कुछ व्यक्त अवश्य होते हैं परन्तु रसो और रस-दृष्टियो म वे साक्षात सजीव हो उठते है । जिस प्रकार व्याख्यान, वरद आदि मुद्राओ से प्रतिमाए व्याख्यान देने लगती है उपदेश देने लगती हैं वरदान देने लगती है, उसी प्रकार से य मुद्रायें चित्रो और प्रतिमाओ को अपने पूर्ण व्यक्तित्व म अभिव्यक्त कर देती है। भाव-व्यक्ति जब रसाभिव्यक्ति मे परिणत हो जाती है तो यह कला न रह कर रस शास्त्र (Aesthetics) बन जाती है। अब आइये चित्रो का काव्य के रूप म देखें —

काव्य एव चित्र —वामन अलकारिक-परम्परा के प्रौढ आचार्य माने जाते हैं उनके काव्यालकार-सूत्र मे बहुत से अलकार एव वृत्तिया चित्र के रूप मे व्याख्यापित है। इसी महती दृष्टि से काव्य की परिभाषा को चित्र म परिणत कर दिया है —

रीतिरात्मा काव्यस्य

और रीति को उन्होने जो वृत्ति मे व्याख्या की है वह भी कितनी मार्मिक है —

एतासु तिसषु रेखास्विव चित्र काव्य प्रनिष्ठतम '

यत उन्होने काव्य की आत्मा रीति मानी है उसी प्रकार से चित्र की आत्मा रेखायें है। विष्णु-धर्मोत्तर के उपरि-उद्धृत रेखा प्रशसत्याचार्या भी यही परिपुष्ट करता है। पुन वामन अपने काव्यालकार-सूत्र-वृत्ति ३.१.१ म रेखा से आगे बढ कर गुण मे आ जाते हैं —

यथा विच्छिद्यते रेखा चतुर चित्र पण्डित ।
तथैव वागपि प्राज्ञै समस्तगुणगुम्फिता ॥

यह उक्ति पुन विष्णुधर्मोत्तर की उक्ति का स्मरण कराती है —

वर्णाढ्यमितरे जना '

निम्नलिखित थोडे से और उद्धरण पढिए जिससे काव्य एव चित्र म क्या कोइ अन्तर है—यह सब अपने आप बोध-गम्य हो जावगा —

"औज्ज्वल्य कान्ति —यह काव्य के दश गुणो मे से कान्ति भी प्राचीन आलकारिको के द्वारा माना गया है, अत कान्ति अर्थात् औज्ज्वल्य यथा पूव-

स्तम्भो मे चित्र गुणो मे ओज्ज्वल्य की समीक्षा कर ही चुका हू वही वामन के मत मे ओज्ज्वल्य काव्य गुण है । पुन उनके लक्षण एव वृत्ति को देखें —

"ओज्ज्वल्य काति का सू० ३ १ २५

"यथा विच्छिद्यते रेखा चतुर चित्रपण्डित ।

तथैव वागपि प्राज्ञ समस्तगुणगुम्फिता । 'का सू० ३ १

'ओज्ज्वल्य काति' का सू ३ २५

'ब धस्य उज्ज्वलत्व नाम यत असौ कातिरिति, तदभावे पुराणच्छायत्युच्यते"

ओज्ज्वल्य कातिरित्याहुगु ण गुणविशारदा ।

पुराणचित्रस्थानीय तेन व ध्य कवेवच ॥

वामन अपने काव्यालकार सूत्र (१ ३ ३०-३१) म भी विष्णुधर्मोत्तर के समान ही नाटय एव चित्र को क ही कोटि मे लाकर रख देते है —

स न्दर्भेषु दशरूपक नाटकादि श्रय तद्धि चित्र चित्रपटवत विशेषसाकल्यात"

यही भरत के नाटय-शास्त्र तथा भाव-प्रकाश से भी समर्थित है—

अवस्थानुकृतिर्नाटच रूप दश्यतयोच्यत ' भ० ना० शा०

' रूपक तद भवेद् रूप दश्यत्वात प्रेक्षक रिदम' भा० प्र०

(स) अतएव वामन ने जो" राति रात्मा काव्यस्य"

कहा है उसी की सु दर टीका हमे रत्नेश्वर के द्वारा भोज देव के सरस्वती कण्ठाभरण मे प्रदत्त इस वामन के सूत्र की जो वहा व्याख्या मिलती है वह भी कितनी मार्मिक है

"यथा चित्रस्य लखा अगप्रत्यङ्गलावण्योमीलनक्षमा, तथा रीतिरिति द्वितीये विस्तर "

भाट्टतौत के शिष्य अभिनवगुप्त ने भी अपनी अभिनव-भारती मे वामन के इस नाटय एव चित्र के सन्दभ को भी समर्थित किया है, जो वहीं पर पठितव्य है।

(II) राजशेखर की अपने बाल भारत (प्रचण्ड-पाण्डव) मे प्रदत्त निम्न उक्ति को पढिये और समझने की कोशिश कीजिय—

"किञ्च स्तोकतम कलापकलनश्यामायमान मनाक्

धूमश्यामपुराणचित्ररचनारूप जगज्जायते

(III) राजानक कुन्तक के वक्रोक्ति-जीवितम् के निम्न श्लोक

मज्ञनोफ्लक्रोल्लेखवणच्छायाश्रिय पथक ।
चित्रस्येव मनोहारि क्तु किमपि कौशलम ॥

इन दोनो सन्दर्भो से चित्र विद्या एव काव्य-शास्त्र का कितना सुदर श्रयोन्याश्रयिभाव प्रत्यक्ष है । राजनक-कुन्तक यहा दो भूमि-बन्धनो (कुड्य एव पट्ट) की ओर सकेत ही नही करते वरन रेखा-क्रम के सिद्धान्तो—जैसे प्रमाण (anatomical), वर्ण क्षाया कान्ति ग्रादि पर भी प्रकाश डालते हैं ।

चित्र एव रस —चित्र कला मे रसा एव रस-दृष्टियो के श्रत्यन्त महत्व-पूर्ण स्थान का हम पहिले इस स्तम्भ मे विचार कर चुके है । यहाँ तो हमे सस्कृत के काव्याचार्यों को लेना था, अत निम्नलिखित दोनो उद्धरणो को पढिये । एक चित्र शास्त्री श्रभिलाषितार्थ-चिन्तामणि के लेखक महाराज सोमेश्वरदेव का तथा सस्कृत काव्य-शास्त्री चन्द्रालोक के लब्धप्रतिष्ठ लेखक जयदेव का—

श्रृगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते ।
भावचित्र तदाख्यात चित्रकौतुककारकम ॥ श्रभि० चि०
काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावित ।
ग्रास्वाद्यमानैकतनु स्थायी भावो रस स्मत ॥—चन्द्रा०

अत यह पूर्ण प्रकट है जब चित्र नाट्य पर ग्राश्रित है और नाट्य रसास्वाद अथवा रसाभिव्यक्ति पर ही ग्राश्रित है, तो उसी प्रकार काव्य भी तो रस-सिद्धान्त चित्र-कला का भी तत्सम सिद्धान्त है । ग्राइये सर्वोपर कोटि पर—ध्वनि सिद्धान्त ।

चित्र एव ध्वनि —पीछे के स्तम्भ मे प्रतीकात्मक अवलम्बना (Convention in depicting pictures) पर हम काफी कह चुके हैं अत जिस प्रकार व्यञ्जना (Suggestion) उत्तम काव्य की मूल भित्ति है उसी प्रकार ग्राकाश पृथ्वी, पर्वत जुवारी, मार्ग ग्रादि कैसे बिना प्रतीकात्मक अवलम्बनो (Suggestions or symbols) के चित्र्य हो सकते हैं । ग्राधुनिक काव्य एव कला के समीक्षक ललित-कला म मुद्रा सिद्धान्त (Symbolism in Art) को प्राण माना है तो प्राचीन ग्राचार्यों ने पहले ही यह परम्परा प्रारम्भ कर दी थी । नाट्य प्रतिमा एव चित्र म बिना मुद्रा ये सब निष्प्राण है, अत जो मुद्रा है वही व्यजना है । रसान्वनि स्वशब्दवाच्यत्व से हमशा दूर रहते हैं, तभी काव्य मे उत्तम काव्यता प्राप्त हो सकती है । उसी प्रकार चित्र भी काव्य एव नाट्य के

समान तभी ललित कला हो सकती है, जब व्यजना या प्रतीकात्मक अवलम्बन (Suggestion or symbol) उसमे पूर्ण प्रतिष्ठित हो।

चित्र-शैलियाँ
(पत्र एव कण्टक के आधार पर)

जहा तक चित्र-शैलियो की बात है स्थापत्य की ही शैलियो मे इनको गतार्थ किया जा सकता है। अब तक किसी ने भारत-भारती Indoloy में चित्रो के सम्बन्ध मे शैलियो का उपश्लोकन नही किया है। अनेक वास्तु-ग्रन्थो के अध्ययन के उपरान्त जब हम अपराजित-पृच्छा पर आए, तो इस ग्रन्थ के २२७-२२९ सूत्रो मे बडी ही मार्मिक एव नवीन उदभावना प्राप्त की है।

चित्र पत्र —अपराजित पृच्छा मे जिस प्रकार रेखा-कर्म, वर्ण विन्यास, मान-प्रमाण चित्र के लिए अनिवार्य अग है, उसी प्रकार पत्र-विन्यास तथा कण्टक स्फूर्ति भी एक प्रकार से चित्र की प्रोज्ज्वलता लाने के लिए एव छाया और कान्ति के लिए तथा प्रदीप्ति के लिए आवश्यक माने गए हैं। मेरी दृष्टि मे इन पत्रो और कण्टको का सम्बन्ध चित्रकला मे प्राकृतिक पृष्ठ-भूमि (Natural Background) से सम्बन्ध रखता है। दूसरी उद्भावना यह है कि ये पत्र और कण्टक चित्र-विशेष के द्रा के सम्भवत विशेष वैशिष्ट्य हैं। अतएव पत्रो और कण्टको की निम्न तालिका मे जो इनकी शैलिया और विधा से सम्बन्ध है, इन वास्तु ग्रन्थो मे शैली का कही भी कीर्तन नही। जातिया ही वहा प्रतिपादित की गई हैं। इस लिए शैलिया और जातिया एक ही चीज हैं। इन पत्र-जातिया के सम्बन्ध मे अपराजित-पृच्छा मे एक बडा ही मनोरजक और पौराणिक आख्यान है कि इन पत्रो और कण्टको का किस प्रकार से प्रादुर्भाव हुआ —

समुद्र मथन मे जब नाना रत्न निकले तो सुरतरू—कल्प-वृक्ष भी निकला, जिसमे नाना प्रकार के पुष्प-पत्र लदे थे। जो पत्रादि पूर्व मे थे उसकी सज्ञा नागर हुई, जो दक्षिण मे थे उनकी सज्ञा द्राविड हुई और जो उत्तर मे थे वे वेसर हुए। पुन इन पत्रो को ऋतु से सम्बद्ध कर दिया अर्थात् बसन्त मे नागर, ग्रीष्म मे द्राविड तथा शरद मे वेसर। इन्ही पत्रो की जातियो को एक दूसरे से वैभिन्न्य प्रदान करने के लिए (To distinguish) इन पत्रो के जो कण्टक थे वे ही इनके घटक हुए।

अस्तु इस उपोद्घात के बाद पहले हम पत्र-तालिका पर आए —

षडविधा

१	नागर	४	बमर	टि० इन पत्रो को इस ग्रन्थ मे नाना
२	द्राविड	५	कलिंग	पत्रों मे विभाजित किया है जिनकी
३	व्यन्तर		यामुन	सख्या सन्यातीत है जस दिन पत्र,
				ऋतु पत्र मेघ-पत्र स्थल-पत्र आदि ।

अष्टविधा

चित्र-पत्र कण्टक इन—कण्टको की अष्ट-विधा है —

१	कलि	५	व्यावत
२	कलिका	६	व्यावृत्त
३	व्यामिश्र	७	सुभग
४	चित्र-कौशल	८	भग-चित्रक

अपराजित- पृच्छा के निम्नोद्धरण से इन की आकृति भी विभाव्य है— अर्थात कलि अगस्त्यपुष्पकाकार कलिक वराहदष्टाकृति व्यामिश्र बद्धपुष्पाङ्कुवाकार मध्यकेशराकार कापाल उकारसदृशाकार व्यावृत्त व्याघ्रनखाकार सुभङ्ग कृतिवाकृति एव भङ्ग बदरीफलाकार । जहा तक शैल्यनुरूप अर्थात जातिपुरस्सर इन कण्टको की विचित्रता है वह इस तालिका स निभाल्य है —

नागर	व्याघ्रनखाकार
द्राविड	बदरी-केतकी-आकार
वेसर	अगस्त्य पुष्पकाकार
कालिङ्ग	उकाराकार
यामुन	मध्यकेशरकृति
व्यन्तर	वराहदस्ट्राकृति—

पत्र एव कण्टको का चित्र-प्रोल्लास महाकवि बाण भट्ट के काव्यों द० हर्षचरित का निम्न प्रवचन जो इस चित्र-कौशल का पूव प्रतिबिम्बन करता है —

बहुविधवर्णदिग्धाङगुलीभिर्ग्रीवासूत्राणि
च चित्रयन्तीभिश्चित्रपत्रलतालेख्यकुशलाभि ॥

अ त मे इन शलियो पर कुछ और भी विवच्य है । वस तो चित्र कला के तीन प्रमुख युग सम्प्रदायानुसार विभाजित किये गये है—हिंदू चित्र-कला बौद्ध चित्र-कला तथा मुगल चित्र कला। चूकि हम यहा हिंदू स्थापत्य एव चित्र की शास्त्रीय समीक्षा कर रहे है अत जहा तक हि दू युग का सम्ब ध है उसम एतिहासिक शैलियो का कोई विशष महत्व नही, क्योकि इस युग की चित्र कला एक ही आधार पर बनी है जो स्मार्क नि न्तन से साक्षात् प्रतात है।

तारानाथ ने बौद्ध चित्र-कला पर बडी ही मनोरजक कहानी प्रस्तुत की है। तारानाथ ने बौद्ध-चित्र-कला की तीन शैलियो की उदभावना की है—

१ देव शैली २ यक्ष-शैली ३ नाग-शैली।

देव-शली—मगध देश (आधुनिक बिहार) की महिमा है, जिसका काल उ होने ईसा-पूव छटी से लगाकर तीसरी शताब्दी तक रखा है । उस समय इस कला का महान उत्थान बताया गया है जो चित्र महान आश्चय एव विस्मय के उदाहरण थ ।

यक्ष-शली—अशोक-कालीन प्रोल्लास है। अशोक के काल मे अवश्य तक्षण एव चित्र का महान विकास हो चुका था । अशोक-स्तम्भ स्मरणीय निदर्शन हैं।

नागर-शली—नागाजु न (बौद्ध भिक्षु एव महान बौद्ध दार्शनिक तथा पण्डित) के समय मे यह तीसरी शैली न ज म लिया। नागो की कला का हम कुछ सकेत कर ही चुके हैं। नाग-जाति बडी ही तक्षण-कुशल थी, अत चित्र-कौशल मे कैसे पीछ रह सकती थी। अमरावती का बौद्ध स्तूप नाग-तक्षकों की ही कृति मानी गई है।

तारानाथ की यह भी आलाचना है कि ईसवीयोत्तर ततीय शतक स बौद्ध चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ हाने लगा था। पुन बौद्ध चित्र कला जाग उठी। उसका पूण श्रेय महनीय कीर्ति तक्षक एव चित्रकार बिम्बसार को था, जो महाराज बुद्ध पक्ष के राज्य-काल म उत्पन्न हुए थ। वह मागध थ । उनका समय ५वी अथवा ६वी शताब्दी के बीच माना जाता है। उस समय तीन भौगालिक चित्र-केन्द्र पनप रह थ। मध्य देश, पश्चिम देश, तथा पूव । बिम्बसार ने इस मध्य प्रदेश की चित्र कला को अति प्राचीन देव-चित्र-कला के अवतारण (Renaissance) म परिणत कर दी थी।

जहा तक पश्चिम केन्द्र की बात है उसे हम राज-स्थनी केन्द्र के नाम से सकीर्तित कर सकते हैं। इस केन्द्र का लब्धकीर्ति चित्रकार शारगधर थे जो मारवाड मे पैदा हुए थे। उस समय राजा शील राज्य कर रहे थे। सम्भवत यह राजा उदयपुर के शिलादित्य गुहिल थे जिनका समय ७वी ईसवी शती माना जाता है। तारानाथ के मत मे ये चित्र कलाए अति प्राचीन यक्ष कौशल पर ग्रालम्बित थी।

अब आइए पूर्वी स्कूल पर। यह बगाल मे विकसित एव पोल्लसित हुआ था। राजा धर्मपाल तथा राजा देवपाल बगाल के बडे कला-सरक्षक नरेश थे। यह समय नवी शताब्दी माना जाता है। इसी प्रदेश मे नागो की शैली का पुनरुत्थान हुआ। इसका श्रेय उस केन्द्र के महाकीर्ति-शाली धीमन तथा उनके पुत्र वितपल का था जो दोनो कुशल तक्षक एव चित्रकार के साथ साथ धातु-तक्षण मे भी अति प्रवीण थे।

इन प्रमुख चित्र-केन्द्रो एव तत्तद्देशीय शैलियो के अवान्तर केन्द्र एव भेद भी प्रादुर्भूत हो गये। काश्मीर नेपाल, बर्मा दक्षिण के बहुत से नगर इन सभी स्थानो पर उप-केन्द्र विलसित हो गये। इस स्तम्भ मे हमे मध्य कालीन चित्र-कला की विशेष अवतारणा आवश्यक नही। मध्य-काल की चित्र-शैली का कलम पर आधारित किया गया था। कलम से लेखनी नही ब्रश समझे। देहली कलम आदि से हम परिचित हैं। उसी प्रकार राजपूताने के चित्र-कौशल मे जयपुर तथा कागरा ही आते हैं। पुन अब आइये उत्तरापथ की ओर तो हम बहुतो की प्रसिद्धि पाते हैं तथा कुछ नवीन कलमे जैसे लखनवी दक्षिणी काश्मीरी, ईरानी, पटना आदि आदि।

अस्तु, थोडे से विहगावलोकन के उपरान्त अब हम चित्र कार के चरणों पर पाठको को नत-मस्तक करने के लिए इच्छुक है, क्योकि महाराजाधिराज सोमेश्वर देव ने चित्रकार को ब्रह्मा के रूप मे विभावित किया है।

चित्रकार एव उसकी कला

चित्रकार के सम्बन्ध मे कुछ लिखने के प्रथम हम यहा पर यह भी थोडा इगित करना आवश्यक है कि भारतीय चित्र-कला तथा पश्चिमीय चित्र-कला मे क्या अन्तर है। सर्व-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि इस देश की सभी कलाएं क्या सगीत, क्या नृत्य, क्या नाट्य क्या काव्य—यहा तक कि वास्तु एव शिल्प भी

सभी ये कलायें दर्शन की ज्योति से उद्दीपित थी। संगीत मे नाद ब्रह्म, काव्य एव नाटय मे शब्द-ब्रह्म (दे० वैयाकरणो का स्फोट ब्रह्म, जो उनके अनुजो का भी वही ध्वनि-सिद्धान्त मे गताथ है) तथा रस-ब्रह्म, वास्तु मे वास्तु-ब्रह्म—ये सब कल्पनाए कोरी कल्पनाए नही—ये कलाम्रो को सावभौमिक एव सव कालीन (Space and time) आभा से आभासित कर दिया था। जिस प्रकार सगीत अर्थात Classical Music एक महती साधना है, उसी प्रकार चित्र भी उससे कम महती निष्ठा एव साधना से रहित नही है। चित्र एकमात्र मनोरजन कला नही, वह काव्य, नाटय एव वास्तु शिल्प के समान भी वह अध्यात्म से अनुप्राणित है एव महान प्रेरणा को प्रदान करने वाली है। अजन्ता की गुफाओ मे सैकडो वष किस महान् अध्यवसाय एव तप की साधना म इन की रचना हुई-देखिए महाभिनिष्क्रमण-चित्र, मार कम (Exploits of Mara) अप्सराओ की क्रीडायें, विद्याधर-यक्ष गन्धव-किन्नरो के साथ देव-गण, नाना पुष्पादप-पारिजात बल्ली-गुल्म-लता वीरुध आदि प्रकृति छाया—ये सब चित्र न केवल प्रशसा के लिए वरन् महती प्रेरणा के लिए भी हैं।

यद्यपि ललित कलाओ का सेवन सभी जातियो एव सभ्यताओ तथा सस्कृतियो का अभिन्न अग है तथापि भारत की इन कलाओ मे कुछ भिन्नता भी तथा विशिष्टता भी है। विशेषकर इस जगत म पाश्चात्य एव पौर्वात्य म य ही दो सस्कृति-धारायें विशेष-रूप से समीक्ष्य है। भारत का कलाकार या चित्रकार दार्शनिक पहले, कलाकार बाद मे। पाश्चात्य चित्र-कला की विशेषता रेखा Mass है और पौर्वात्य चित्र-कला की विशेषता रेखा Line है। पर्सी ब्राउन ने इन दोनो की जो समीक्षा की है वह बडी मार्मिक एव सार-गर्भित है—

As the painting of the West is an art of "mass" so that the East is an art of Line The Western artist conceives his composition in contiguous planes of light and shade and colour He obtains his effect by "Play of surface" by the blending of one form into another, so that decision gives place to suggestion In Occidental painting there is an absence of definite circumscribing lines any demarcation being felt rather than seen On the other hand, much of the beauty of Oriental painting lies in the interpretation of form by means of a clear-cut definition, regular and decided, in other words, the Eastern

painter expresses form through a coovention—the convention of pure line and in the manipulation and the quality of this line the Oriental artist is supreme Western painting like western music is communal it is produced with the intention of giving pleasure to a number of people gathered together Indian painting with the important exception of the Buddist frescoes is individual miniature painting that can only be enjoyed by one or two persons at a time In its music in its painting, and even in its religi us ritual, India is largely individualist' —Brown

चित्र के दोष-गुण

चित्र कला के प्राय सभी अगा (षडगो) पर हम विचार कर ही चुके हैं। अब आइयें पुन विष्णु धर्मोत्तर की ओर जिसमे चित्र-दोषो एव चित्र-गुणो पर भी काफी प्रवचन प्राप्त होते हैं—देखिए ये नि न प्रवचन —

चित्र-गुणा —स्थानप्रमाणभूलम्बो मधुरत्व विभक्तता।
सादृश्य पक्षवृद्धिश्च गुणाश्चित्रस्य कीर्तिता ॥
रेखा च वतना चव भूषणा वर्णमव च।
विनेया मुनजश्रेष्ठ चित्रकमसु भूषणम् ॥
रेखा प्रशसन्त्याचार्या वतना च विचक्षणा ।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्य मितरे जना ॥
इति मत्वा तथा यत्न कतव्यश्चित्रकमणि।
सवस्य चित्रग्रहण यथा स्यान्मनुजोतम ॥
स्वानुलिप्तावकाशा च निदेश मवुका शुभा।
सुप्रपन्नभिगुप्ता च भूमिस्सच्चित्रकमणि ॥
सुस्निग्धविस्पष्टसुवणरेख विद्वान्यथादेशविशेषवेशम्।
प्रमाणशोभाभिरहीयमान कृत भवेच्चित्रमतीव चित्रम् ॥

चित्र-दोषा —दौबल्यविं दुरेखत्वमविभक्तत्वमेव च।
बृहद्गण्डौष्ठनेत्रत्वमविरुद्धत्वमेव च ॥
मानवाकारता चेति चित्रदोषा प्रकीर्तिता।
दुरासन दुरानीत पिपासा चा य चित्तता ॥
एते चित्रविनाशस्य हेतव परिकीर्तिता।

चित्रकार—अब आइये चित्रकार की ओर। हम इस स्तम्भ म पहले ही कह चुके है। महाराज सोमेश्वर देव जो लब्ध प्रतिष्ठ एक स्वय चित्रकार भी थे, तथा इस प्रसिद्ध ग्रथ मानसोल्लास (अथवा अभिलषितार्थ-चिन्तामणि) के लेखक भी थ व चित्रकार क सम्ब ध मे लिखत है —

प्रगल्भैर्भावित्तस्तज्ञ सूक्ष्मरेखाविशारदै ।
विधिनिर्माणकुशलै पत्र-लेखन कोविदै ॥
वर्णपूरणदक्षश्च वीरणे च कृतश्रमै ।
चित्रकैर्लेखयच्चित्र नानारससमुद्भवम ॥

स सू का भी प्रवचन पढे —

नृत्य त केऽपि शास्त्रार्थं केचित कर्माणि कुर्वते ।
कराममकव (स्यास्य पर ?) द्वयमप्यद ॥
न वत्ति शास्त्रवित कम न शास्त्रमपि कर्मवित ।
यो वत्ति द्वयमप्येतत स हि चित्रकरो वर ॥

प्राचीन भारत के थोडे से ही चित्रकारो के सम्बन्ध मे कुछ साहित्यिक सन्दर्भ प्राप्त होत है। पुराणो एव ऐतिहासिक ग्र थो जसे महाभारत मे भारत का प्रथम चित्रकार एक नारी थी—चित्रलखा। उसका वृत्तान्त प्राय सभी को विदित है। बात यह है कि भारतीय चित्रकला अनभिधय कला Anonymous) art) है। भारत क चित्रकार क विषय मे एक प्रकार से बिल्कुल ही अज्ञात है। पश्चिम क चित्र-कलाकारो के पूर्ण वृत्ता त ज्ञात है। मुगलो राजपूतानो तथा अन्य प्रदेशो क चित्र ही चित्रकार के वृत्ता त—जीवन साधना एव कला—के मूक इतिहास हैं। हा बौद्धो की चित्र-कला स यह अनुमान अवश्य लगा सकत है कि भिक्षु ही चित्रकार था। तिब्बती चित्रो को देखिये व सब सघारामो चत्यो एव विहारो की कृतिया हैं। वही सत्य अज ता आदि प्राचीन बौद्ध पीठो की कथा है। जिस प्रकार भिक्षुओ एव भिक्षुणियो क लिए बौद्ध धम की नियमावली मे जो दिनचर्यायें कल्पित थी वही चित्र-पटो चित्र-पट्टो के कल्पन, सवन एव ज्ञानार्जन तथा उपदेश वितरण के लिए भी अनिवार्य चर्या थी। राज-स्थान मे जिस प्रकार ग्रामे ग्रामे नाना कलाकार—तन्तुवाय धातु-कार, कुम्भ कार, प्रतिमा-कार थे उसी प्रकार उन्ही श्रेणियो मे सवत्र चित्रकार भी अपनी आराधना, अध्यवाय व्यवसाय स जीविकोपार्जन एव जीवन-यापन करते थे। मुगल चित्र-कार वास्तव मे राज दरबार का दरबारी चित्रकार होता था।

जिस प्रकार गुप्त-काल मे तथा धाराधिप भोज-देव के दरबार मे कवियो की श्रेणिया रत्नो के रूप मे विभाज्य थी, उसी प्रकार चित्रकार भी रत्न कहे जाते हैं। विक्रमादित्य के नौ रत्नो की गाथा एव श्रुति से हम परिचित ही हैं—उसी प्रकार उत्तर मध्यकाल म यह मुगल-कालीन परम्परा मवध म भी प्रचलित हो गई।

चित्र-कला के पुरातत्वीय एवं ऐतिहासिक निदर्शनों पर एक विहंगम दृष्टि

यद्यपि समरांगण सूत्रधार का यह अध्ययन शास्त्रीय है तथापि जैसा कि समाज में और शिल्पि-मण्डली एवं पण्डित-मण्डली में यह उक्ति थी कि साहित्य समाज का दर्पण है' अतः कोई भी शास्त्र यदि समाज का दर्पण न भी हो तो वह समाज के लिए निश्चय ही आदर्श, प्रेरणाएं और पारिभाषिक शास्त्र एवं विज्ञान अवश्य प्रस्तुत करता है। हमारे देश में किस प्रकार से सम्पूर्ण जीवन चर्या नियन्त्रबद्ध यापन करनी चाहिए उसी के लिए तो प्रभु-सम्मित वैदिक आदेश मिले (चोदनामूलो धर्म)—चोदना-प्रेरणा उसी प्रकार हमारे मनु आदि धर्माचार्यों ने धर्मशास्त्र बनाये। इतिहास और पुराणों ने सुहृद्-सम्मित उपदेश के द्वारा यही कार्य सम्पादन किया और काव्य-नाटक भी पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी कान्तासम्मित उपदेश एवं ज्ञान को ही ध्यान में रखकर आदि कवि बाल्मीकि एवं व्यास एवं तथा महाकवि कालिदास बाण, भवभूति, श्री हर्ष आदि भी बहुत सी कलाओं सामाजिक मान्यताओं एवं धार्मिक उपचेतनाओं अर्थात् समस्त सांस्कृतिक मूलाधारों एवं रूढ़ियों को प्रश्रय देने में पीछे नहीं रहे। अस्तु यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो कला भी समाज का प्रतिबिम्ब है अतः हम इस अध्ययन में पुरातत्वीय चित्र-निदर्शनों को छोड़ना उचित नहीं समझते। पुनश्च उपर्युक्त महाकवियों की मार्मिक उक्तियां, जो चित्र से सम्बन्धित हैं उनका परिशीलन भी इस अध्ययन में उपकारक होगा।

अब प्रश्न यह है कि हम इतिहास की दृष्टि से पहले पुरातत्व को लें या साहित्य को लें ? वास्तव में कालानुरूप (Chronological) इन दोनों धाराओं का विवेचन असम्भव है—जहां तक परिनिष्ठित कला का प्रश्न है, क्योंकि कोई भी परिनिष्ठित कला बिना शास्त्र के कभी भी विकसित नहीं की जा सकती। पाषाण एवं धातु इन दोनों युगों में पर्वत की कन्दराओं में कोई न कोई उत्कीर्ण

चित्र अवश्य प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार साहित्यक-सदर्भों को देखें तो हमारे इस देश मे सुदूर अतीत मे सभ्यता और सस्कृति का कला-सेवन एक अभिन्न अग था। इस प्रकार पूर्व-एतिहासिक, वदिक तथा शैव बौद्धकाल य—सभी चित्रकला के सेवन मे प्रमाण उपस्थित करते हैं। महाभारत और पुराणो मे उषा और चित्र-लेखा की जो कहानी हम पढते हैं उस समय चित्र कला कितनी प्रवृद्ध कला थी। यह स्वत सिद्ध हो जाता है। ई० पूर्व रचित साहित्यिक ग्रथ जैसे विनय-पिटक, वात्स्यायन का काम-सूत्र, कौटिल्य का अर्थशास्त्र भास के नाटक कालिदास और अश्वघोष के महाकाव्य—इन सभी ग्रन्थो मे चित्र-कला का प्रोल्लास पद पद पर दिखाई देता है।

आज का युग कागज और छपाई का युग है इस लिए जरा हम सोचें कि उस सुदूर अतीत मे जनता म उपदेश वितरण करने के लिए, ज्ञानार्जन के साधनो के लिए तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो के धर्म-चर्या के उपकरणो के लिए पट-चित्र पट्ट चित्र कुड्य चित्र—तीनो बहुत सुन्दर साधन थे। बौद्धों के अनेक चैत्यों और विहारो (दे० अजन्ता आदि बुद्ध-पीठ) म कुड्य-चित्रों का निर्माण कोई मनोरजन मात्र ही न था। बुद्ध-धर्म की शिक्षा चर्या एव दर्शन की प्रत्यभिज्ञा और अभिख्या के लिए ही इन का उद्देश्य था। नाटक के मुद्राराक्षस का यम-पट इसी तथ्य का निदर्शन है। प्राचीन काल म धर्म-गुरुओ एव उपदेशको के लिए चित्र ही बडे साधन थे, जिन से अज्ञो एव शिशुओ को उपदेश देते थे। हमारे देश मे ब्राह्मणो का एक सम्प्रदाय था जिसकी सज्ञा 'नख (नख ब्राह्मण) थी, जो कुण्डली-चित्रो (portable frame work) की सहायता से ही वे एक प्रकार से धर्म और अधर्म, पाप एव पुण्य, भाग्य एव दुर्भाग्य—इन सब का ज्ञान प्रदान करते थे।

हम पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं कि नाट्य और चित्र एक ही हैं तो जब नाट्य एक प्राचीनतम शास्त्र एव कला थी (नाट्य-वेद) तो फिर चित्र पीछे कैसे रह सकता है। अस्तु, अब कोई माप-दण्ड हमारे समक्ष नहीं रहा कि पुरातत्व को पहले प्रारम्भ करें या साहित्यक को अत हम पहले पुरातत्वीय निदर्शनो को लेते हैं।

पुरातत्वीय निदर्शन—एतिहासिक दृष्टि स चित्र के पुरातत्वीय स्मारकों को हम दो कालो म विभाजित कर सकते हैं—पूर्व-ईस्वीय तथा उत्तर-ईस्वीय।

पूर्व-ईसवीय को हम दो उप कालो मे विभाजित कर सकते हैं—प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक ।

प्रागैतिहासिक—इस काल म जैसा हम ने ऊपर सकेत किया है वे सब पर्वत-कन्दराओ के ही भग्नावशेष हैं । जहा तक हमारे देश की इस कला का प्रश्न है, वह निम्नलिखित प्राचीन स्थानो मे प्राप्य है –

(अ) कामूरपर्वत-श्रेणी—मध्य भारत की इन पर्वत-श्रेणियो म कुछ कन्दराय हैं जहा पर मृगया चित्र पाये जाते हैं — पुरातत्वान्वेषण की यह विज्ञप्ति है ।

(ब) विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी—इन पर्वत-श्रेणियो की गुहाओ मे उत्तर-पाषाण-कालीन चित्र-निदर्शन प्राप्त हुए हैं । ये निदर्शन एक विशेष विकास के निदर्शक भी हैं कि वहा पर ऐसा प्रतीत होता है मानो ये Art Studio हैं, जहा पर वर्णों को कूटने छानने एव विन्यास-प्रदातव्य बनाने के लिए उलूखलादि पात्र पाये गये हैं । पर्सी ब्राउन (दे० उनकी Indian painting) ने इस को Neolithic art studio के रूप मे उद्भावित किया है ।

(स) अन्य पर्वत-श्रेणिया, विशेषकर माड नदी के पूर्वीय क्षेत्र की ओर जो रायगढ स्टेट (मध्य प्रदेश) म सिंहपुर ग्राम है, वहा पर अति प्राचीन चित्र प्राप्त हुए है, जिनमे रैखिक विन्यास, रक्ताभ वर्ण-विन्यास भी प्राप्त होता है । इन चित्रो मे चित्र्य मानव एव पशु दोनो हो के चित्र प्राप्त होते हैं । इन चित्रो को ब्राउन ने Heiroglaphics की सज्ञा म उद्भावित किया है ।

पशुओ मे हरिण गज खरगोश आदि के मृगया-दृश्य बडे ही मार्मिक चित्र यहा प्राप्त होते हैं । महिष-घात-चित्र बडा ही भयानक एव विस्मयकारी है जहा पर भालो से भैसा मारा जा रहा है तथा जब वह मरणासन्न हो रहा है तो शिकारी आनन्दातिरेक से विभोर हो रहे हैं । ब्राउन की समीक्षा म इन चित्रो म haematite brush forms से रेखा-चित्रों एव वर्ण चित्रो की प्रगति अनुमेय हो रही है ।

(य) मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश) के समीप पर्वत-कन्दराओ के चित्र भी यही मृगया-चित्र-निदर्शन प्रस्तुत करते हैं । यहा पर लकड-बग्घा की मृगया विशेष विस्मयकारी है । अत इन्हें भी हम Haematite drawing के रूप में ही विभावित कर सकते हैं । आदि प्रागैतिहासिक निदर्शनो के उपरान्त अब आइये ऐतिहासिक निदर्शनो की ओर ।

ऐतिहासिक (पूर्व-ईसवीय)—पुरातत्वीय अन्वेषणा से प्राप्त ईसवीय

पूव ऐतिहासिक निदर्शनो मे सवप्रथम निदर्शन मध्यभारत के सिरगुजा-क्षेत्रीय रायगढ पवत मे स्थित प्रथित-कीर्ति जो जोगीमारा कन्दरा है, उसमे इन कन्दरा की दीवालो पर नाना चित्र प्राप्त होते है। आधुनिक विद्वानो के मत मे ये चित्र ईसवीय-पूव प्रथम शतक के कहे गये है। यद्यपि ये कुड्य-चित्र बडे ही प्रोज्ज्वल एव प्रकष नही तथापि ये Frescoes का श्रीगणेश ही नही करते वरन लेप्य कम-कला (Plastic Art) की भी प्रक्रिया की स्थापना करते है। भवनो, ग्रामो पुरो एव पत्तनो के चित्रो के साथ साथ विशेषकर पशु, मृग जलीय-जन्तु—मकर-मत्स्य सभी प्राकृतिक दृश्य यहा चित्रित पाये जाते है। मेरी दृष्टि मे इस देश की आब-हवा चित्रो के चिर-काल-सहत्व के लिये अनुकूल नही है अत इन्ही श्रेणियो मे अन्य स्थान भी है जहा कुड्य-चित्र काफी विकास को प्राप्त कर चुके थे।

ईसवीयोत्तर—अस्तु इस किञ्चित्कर पूव-ईसवीय प्रागतिहासिक एव ऐतिहासिक दोनो के विहगावलोकन के बाद अब ईसवीयोत्तर काल की ओर चलते है, उन मे जसा पहले स्तम्भ म सकत हो चुका है उसी क अनुरूप इस युग का निम्नलिखित तीन कालो मे बाट सकते है —

१ बौद्ध काल,

२ हिन्दू-काल,

३ मुस्लिम-काल।

यहा पर बौद्धो को प्रथम तथा हिन्दुओ को द्वितीय स्थान देने का अभिप्राय यह है कि हिन्दू चित्र-कला से राज-पूतो (राजस्थानी तथा पजाबी पहाडी राजपूतो) की कला से तात्पय है जो बौद्धो के बाद विकसित हुई। दूसरी विशेषता यह है कि बौद्ध एव हिन्दू अर्थात राजपूती चित्र-कला की पृष्ठ-भूमि धम एव दशन था। इन दोनो के अततम मे रहस्यवाद की छाया सवत्र दिखाई पडती है। जहा तक मुस्लिम काल की मुगल चित्र-कला का प्रश्न है, वह पूरी की पूरी धम-निरपेक्ष (Secular) थी। इस म यथाथवाद विशष रूप से दृश्य है।

यद्यपि राज-पूती चित्र-कला की विशेषता अर्थात धर्माश्रयता पर हम सकेत कर ही चुके है परन्तु इस कला में बौद्ध चित्र-कला की अपेक्षा यह और व्यापक क्षेत्र की ओर बढ गयी थी। वह केवल धार्मिक नाटको आख्यानों उपाख्यानो के ही चित्रण म एकमात्र व्यस्त नही थी। इस चित्र-कला मे ग्रामीण

जीवन, सस्कार, विश्वास, सभ्यता एव सस्कृति का भी पूर्ण चित्रण किया गया है, जिस के द्वारा ये चित्र प्रत्येक गृहस्थ के लिये दैनिक चर्या मे परिणत हो गये। अब इस उपोद्घात के अनन्तर हम इन तीनो कालो को ले रहे हैं।

बौद्ध-काल—इस काल को हम ईसवीय उत्तर ५० से ७०० तक कल्पित कर सकते हैं और यह कला हमारे स्थापत्य एव चित्र मे स्वर्ण युग (Classical Renaissance) प्रस्तुत करता है। बौद्ध-धर्म ने न केवल भारत वरन द्वीपान्तर भारत को भी महान् विश्व-व्यापी धर्म-चक्र से प्रभावित कर दिया है। सिहल-द्वीप (लका), जावा, श्याम वर्मा, नेपाल, खोतान तिब्बत, जापान तथा चीन आदि मे प्राप्त पुरातत्त्वीय स्थापत्य एव चित्र निदर्शन इस प्रभाव का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं। जहाँ पर बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ वहा केवल धर्माचार्य धर्मोपदेशक—भिक्षु एव भिक्षुणी ही नहीं वरन कलाकार भी साथ थे। प्राचीन धर्म-रूप कलम की बात नहीं—वह लेखनी, तूलिका, विलखा की बात थी। कुण्डलीय चित्र-पटो (Pictorial Scrolls) के द्वारा गौतम बुद्ध के धर्म के वितरण के लिये उस समय प्रमुख साधन था। अस्तु अब हम यहा पर बौद्ध-कला को भारतीय स्तर पर ही रखना उचित समझते हैं। इन मे अजन्ता, सिगिरिया (सिहलो), बाघ ही विशेष उल्लेख्य हैं।

अजन्ता—अजन्ता के चित्र विश्व के अष्ट-विध आश्चर्यो मे परिकल्पित किया जा सकते है। तारानाथ की दृष्टि मे यह सब देव विलास हैं। कोई मर्त्य इस प्रकार के विस्मय कारक चित्र कैसे बना सका? अजन्ता का वातावरण देखिये—कितना शान्त, मनोमुग्धकारी, एकान्त, रम्य एव अद्भुत प्रदेश है। इस स्थान पर अध्यात्म, देवत्व, धर्म, दर्शन, चर्या एव नियम दीवालो पर अकित कर दिये गये हैं। अजन्ता के भौगोलिक एव अन्य विवरणो की यहा पर आवश्यकता नही। वैसे तो सारी की सारी सोलह गुफायें चित्रित की गयी थी, परन्तु काल-चक्र एव अन्य मौसमी तथा अन्य प्रभावो ने बहुतो को नष्ट कर डाला है। कवल छै गुफाए चित्रित प्राप्त हुई हैं—यह बात १९१० ई० की है। ये सारे के सारे चित्र-निदर्शन एक व्यक्ति, एक समाज, एक काल के अध्यवसाय नही माने जा सकते। अत हम इन चित्रो को निम्न तालिका में कालानुरूप विभाजित कर सकते है —

(अ) ९वी तथा १०वी गुफा-चित्र ईसवीय १००,

(ब) दशवी गुफा के स्तम्भ-चित्र ईसवीय ३५०,

(म) १६वी तथा १७वी गुफा के चित्र ईसवीय ५००

(य) पहली तथा दूसरी गुफा क चित्र ईसवीय ६२६-६२८।

विषय–इन चित्रो मे बौद्ध जातक साहित्य क ही मुर्ध य एव अविकल चित्रण है। वस कुछ चित्र समय का भी प्रतिबिम्बन करत हैं। अत कदरानुरूप इन विषयो का हम वग उपस्थित करते है –

कदरा न० १– १ शिवि-जातक,
२ राज-भवन-चित्र,
३ राज-भवन-द्वार पर भिक्षु-स्थिति,
४ राज-भवन,
५ राज-भवन-चित्र,
६ शख-पाल-जातक—साप की कहानी,
७ राज-भवन-चित्र—नतकिया (महाजन जातक),
८ महाजन-जातक—भिक्षु-उपदेश-श्रवण,
९ महाजन-जातक—अश्वारूढ राजा,
१० महाजन-जातक—पोत-मग्नता,
११ महाजन-जातक—राग एव वैराग्य,
१२ अमरादेवी की कहानी,
१३ पद्मपाणि बोधिसत्व,
१४ बुद्धाकषण,
१५ एक बोधिसत्व,
१६ बुद्ध-मुद्रायें एव विस्मय (Miracles) श्रावस्ती का विस्मय,
१७ वज्रपाणि—कमल-पुष्प-समपण,
१८ चाम्पेय-जातक,
१९ अनभिज्ञ चित्र,
२० राज-भवन-चित्र,
२१ दरबारी चित्र,
२२ मग-चित्र,
२३ वृषभ-युद्ध,

कन्दरा न० २— १ अर्हत, किन्नर तथा अन्य गण आ बोधि-म व की पूजा कर रहे हैं,
२ बौद्ध भक्त-गण,
३ इन्द्र तथा चार यक्ष,
४ उड्डीयमान चित्र—पौष्पिक एव भंगिक चित्रों क साथ,
५ महिला-प्रवास (Exile),
६ महाहंस-जातक,
७ यक्ष एव यक्षिणिया,
८ बुद्ध-ज म,
९ पुष्प लिये हुए भक्त,
१० पुष्प लिय हुए भक्त,
११ नाग (अजगर), हंस तथा अन्य भगक चित्र,
१२ नाना मुद्राओं में भगवान् बुद्ध,
१३ मैत्रेय (बोधिसत्व)
१४, भगवान् बुद्ध नाना मुद्राओं मे,
१५ भगक चित्र,
१६ अवलोकितेश्वर (बोधिसत्व)
१७ पुष्पसहित भक्त-गण,
१८ पद्मपाणि भक्त-गण,
१९ हारीति तथा पांचिक,
२० विधुर-पण्डित-जातक,
२१ पूण-अवदान-कथा—समुद्र-यात्रा,
२२ पूण-अवदान-कथा—बुद्ध-पूजा,
२३ राज-भवन,
२४ राज-भवन-महिला क्रुद्ध राजा के चरणो पर,
२५ बोधिसत्व—उपदेशक-रूप,
२६ भङ्ग-चित्र,
२७ नाग, गण तथा अन्य दिव्य-चित्र।

कन्दरा न० ६— १ बुद्ध का प्रथम-उपदेश (First Sermon),
२. द्वार-पाल तथा महिला भक्ता,

३ बुद्धाकर्षण,
४ एक भिक्षु;
५ द्वारपाल एव नारी-प्रतिहारिणिया,
६ श्रावस्ती का ग्राश्चय ।

कन्दरा न० ७—१ बुद्धोपदेश;
२ बुद्ध-जन्म;

कन्दरा न० ९—१ नागराज—सगण-सेवक;
२ स्तूप की ग्रोर जाते हुये भक्त;
३ चैत्य एव विहार;
४ बुद्ध जीवन के दो दृश्य;
५ पशु-चित्र;
६ नाना मुद्राग्रो मे भगवान् बुद्ध,

कन्दरा न० १०—१ राजा का बोधि-वृक्ष-पूजार्थ ग्रागमन,
२ राज-जलूस,
३ राज-जलूस;
४ श्याम-जातक-षडदन्त—हस्ति-कथा,
५ छद्दन्त-जातक—षड्दन्त हस्ति-कथा ।
६ बुद्ध-चित्र;

कन्दरा न० ११— १ बोधि-सत्व—पद्मपाणि,
२ बुद्ध तथा ग्रवलोकितेश्वर;

कन्दरा न० १६— १ तुषिता स्वर्ग के चित्र—बुद्ध-जीवन
२ सुत सोम-जातक—सुदास सिंहनी प्रेम-कथा,
३ चैत्य-मन्दिर के सम्मुख दैत्य-गण,
४ महा-उम्मग-जातक,
५ मरणासन्ना राज-कुमारी (परित्यक्ता नन्द पत्नी),
६ नन्द का धर्म-परिवर्तन,
७ मानुष बुद्ध,

८ अप्सरायें तथा बुद्ध का उपदेशक रूप,
९ बुद्ध-उपदेश-मुद्रा,
१० हस्ति-जुलूस,
११ सघोपदेश—बुद्ध
११ बुद्ध-जीवन-चरित-दृश्य—मगध के राजा का आगमन बुद्ध का राजगृह मे भ्रमण
१३ बुद्ध-तपस्या—प्रथम ध्यान तथा चार मुद्रायें,
१४ राज-भवन,
१५ Conception,
१६ बुद्ध का शैशव,

कन्दरा न० १७— १ राजा का दान-वितरण,
२ राज-भवन,
३ इन्द्र तथा अप्सरायें,
४ मानुष बुद्ध तथा यक्ष एव यक्षिणिया,
५ बुद्ध की पूजा करती हुई अप्सरायें तथा गन्धर्व,
६ क्रुद्ध नीलगिरि हस्ति-राज का दृश्य;
७ बोधिसत्व अवलोकतेश्वर तथा भिक्षु-भिक्षुणी-व[illegible],
८ हस्तिनी के साथ यक्ष,
९ राजसी मृगया,
१० ससार-चक्र
११ माता एव शिशु—भगवान् बुद्ध एव अन्य बौद्ध देवा के निकट।
१२ प्रथम धर्म-चक्र,
१३ भग-चित्र,
१४ महाकपि-जातक
१५ हस्ति जातक,
१६ राज-खड्ग-प्रदान,
१७ दरबारी दृश्य;
१८ हस-जातक,
१९ शार्दूल, अप्सरायें तथा बुद्धोपदेश,

२० विश्वन्तर-जातक—दानी राजकुमार,
२१ यक्ष, यक्षिणी एवं अप्सरायें,
२२ महाकपि जातक (२)
२३ सुत-सोम-जातक
२४ तुषिता मे बुद्धोपदेश—दो और दृश्य,
२५ बुद्ध के निकट मा और बच्चा;
२६ श्रावस्ती का महान आश्चर्य;
२७ शरभ-जातक
२८ मात-पोषक-जातक
२९ मत्स्य-जातक,
३० साम (श्याम)-जातक;
३१ महिष-जातक
३२ एक यक्ष—राज-परिक्षक-रूप;
३३ सिंहल अवदान
३४ स्नान-चित्र,
३५ शिबि-जातक,
३६ मृग-जातक;
३७ भालू-जातक,
३८ न्यग्रोध मृग-जातक
३९ दो वामन—वाद्य-यन्त्रो के सहित
४० भग चित्रण।

कन्दरा नं० २१— १ कमल-वलि तथा अन्य पुष्प-विच्छित्तिया।

कन्दरा नं० २२— १ सघ को उपदेश करते हुए भगवान बुद्ध।

सरक्षण—इस तालिका के उपरान्त किस राज्य-काल म, किन कलाचार्यों क सरक्षण म इन चित्रो का निमाण हुआ यह भी विचारणीय है। तारानाथ की एतद्विषयणी उद्भावना का हम ऊपर सकेत कर चुके हैं, तथापि वह पुनरावृत्ति उचित है। जहा तक उत्तम बुद्ध-चित्रों की रचना का सम्बन्ध ह वह देवो क द्वारा बताई जाती है। पुन यह चित्रण यक्षों (पुण्यजनों) के द्वारा आगे चलता रहा, जो अशोक-काल (ई० पूर्व २५०) की गाथा है। तीसरी परम्परा नागा क

द्वारा सम्बद्धित हुई जो नागार्जुन (ई० २००) के आधिपत्य में बताई जाती है। लगभग ३०० वर्ष म यह लडी टूट गई। फिर बुद्धमक्ष (५वी तथा ६ठी शताब्दी) के काल में बिम्बसार नाम चित्राचार्य के द्वारा ये चित्र पुन उसी देव-परम्परा मे रचे जान लगे।

अब आइये एतिहासिक समीक्षा की ओर। जहा तक नवी तथा दसवी क दरा क चित्रो का प्रश्न है वह द्राविड नरेशो (आन्ध्र राजाओ) के काल का विकास है। इस हम ई० पू० २७ से लगाकर २३६ ई० का काल मान सकते है। यह अजन्ता चित्रो का प्रथम वर्ग है।

दूसरा वर्ग (द० गुहा न० १६-१७) गुप्त-काल (३२० ई०) का प्रतिनिधित्व करता है। मेरी दृष्टि मे यह कला गुप्तो की अपेक्षा वाकाटको की विशेष देन है।

तीसरे वर्ग म जहा हम राजा पुलकशिन द्वितीय को एक पर्शियन दूत से मिलते हुए पा रहे है उससे यह वर्ग ६२६-६२८ ई० के समय का सकेत करता है। अब आइये द्रव्य एव क्रिया की ओर।

चित्र-द्रव्य एव चित्र-प्रक्रिया—जहा लेप्य एव प्लास्टर आदि प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वे यथा-प्रतिपादित शास्त्रीय विश्लेषणो के ही निदर्शन हैं। जहा तक इन कुड्य-चित्रो की व्यापक समीक्षा का प्रश्न है, उसमे भारतीय एव योरोपीय-एशियाई दोनो पद्धतिया की तुलनात्मक समीक्षा आवश्यक है। यहा पर हम इतना ही सकेत कर सकते हैं कि ये कुडय-चित्र भारतीय शास्त्रीय प्रक्रिया क पूर्ण प्रतिबिम्ब हैं। प्रत्यक वर्ग के चित्रो के लिये जैसा भूमि-बन्धन हमारे शास्त्रो मे प्रतिपादित है वही यहा पर भी प्रत्यक्ष दिखाई पडता है। चूकि आधुनिक कला-समीक्षक हमारे शास्त्रीय विवरणो (चित्र-लक्षणो) से सर्वथा अपरिचित थे, अत उनक मस्तिष्क म योरप-एशिया के प्रथित चित्र-पीठों पर प्रर्दस ऐसे निदर्शना क कारण उन के लिय सकट उपस्थित हो गया, अत उन्हें इस तुलनात्मक समीक्षा की ओर आना पडा और अन्त मे उन्हे झक मार कर भारतीय पद्धति के निष्कर्षों पर पहुचना पडा। इस तुलनात्मक समीक्षा मे पर्सी ब्राउन ने विशेष विवरण दिये हैं। वे उन्ही के ग्रन्थ में एव मेरे Hindu Canons of Painting or Citra-Lakṣanam and Royal Arts—Yantras and

Citras मे द्रष्टव्य हैं।

वण-विन्यास एव तूलिका-चित्रण—य सब अपने ही शास्त्रो क प्रतीक है। विशेप विवरण यथा-निर्दिष्ट ग्रथो मे देखिये। अब आइये अ त म मरी समीक्षा की ओर।

शास्त्र एव कला—अज ता के चित्रो की सव प्रमुख विशेषता रेखा-क्रम है। विष्णुधर्मोत्तर के निम्न प्रवचन का हम सकेत कर ही चुके हैं —

रेखा प्रशसन्त्याचार्या वतना च विचक्षणा ।
स्त्रियो भूषणमिच्छ ति वर्णाढ्यमितरे जना ॥

अत अज ता के चित्रो मे रेखा-क्रम परम प्रकप का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अज ता की चित्र-तालिका मे प्राप्त विषयो को लेकर इस महान प्रख्यात पीठ पर जाइय और देखिये—महाहस-जातक-चित्र एव उसी चैत्य मे बोधिसत्व-अवलोकितश्वर अथवा बुद्ध का वैर ग्य (The Great Renunciation) जिन म सर्वाधिक वैशिष्ट्य रेखा-कम है तथा वहा रूप-चित्रण (Modeling of Form) भी हमारे चित्र-शास्त्र के सव-प्रमुख क्षय-वृद्धि चित्र-सिद्धान्त का पूण प्रतिविम्वन कर रहा है।

वण-वि यास भी हमार शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन है। महा-हस-जातक-चित्र मे जो वण-वि यास विशेषकर नीली का वि यास किया गया है, वह राजावर्ताभिध वण का प्रतीक है। राजाव त-राजावत-लजावर लाजवर्दी के सम्ब ध मे हम अपने पूव स्तम्भ मे पहले ही समीक्षा कर चुक हैं। जहा तक अ य शास्त्रीय सिद्धा तो क अनुगमन का प्रश्न है वहा प्रतिमा एव चित्र दोनो क सामा य अग जैस मुद्रायें वे भी इन चित्रो मे पूण रूप से विभाव्य हैं। गुहा न० १ के राज-भवन-चित्र मे जो मुद्रा-विनियोग प्राप्त होता है वह बडा आकषक है। इसी प्रकार अ य चित्रों मे भी नाट्य, नृत्य, एव सगीत मुद्राओ का भी बहुत विनियोग प्राप्त होता है। अस्तु अज ता चित्रो के इस स्थूल समीक्षण के उपरा त अबआइये दूसरे चित्र-पीठ की ओर।

सिहल-द्वीप—सिगरिया—इस पीठ के चित्रो की सव-प्रमुख विशेषता है धम-प्रेरणा का अभाव। इन चित्रों मे लगभग बीस नायिका-चित्र हैं। ये चित्र

सिहल द्वीप के राजा काश्यप (४७६-४६७ ई०) के समय मे चित्रित किये गये थे। मेरी धारणा है कि ये रानियो के चित्र हैं। जहा तक चित्रण-प्रकार एव प्रक्रिया की बात है वे सभी शास्त्रानुरूप हैं। इन मे सर्वाधिक वैशिष्ट्य सौन्दर्य है। इन चित्रो मे तक्षण एव चित्र-कौशल दोनों प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। ब्रुश और छनी दोनो की कला के ये मिश्रण है।

बाघ—वैसे तो अजन्ता से सीधी दिशा मे लगभग १५० मील की दूरी पर यह चित्र पीठ स्थित है परन्तु नर्मदा दोनो के बीच बहती हुई इनको पृथक् भी कर रही है। अत इन दोनो के सरक्षण की पृथक्ता भी सुतरा प्रकट एव समर्थित है। इस पीठ पर न तो कोई शिला-लेख प्राप्त है न कोई ऐतिहासिक सूचना। इस पहाडी के एक विशाल हाल मे नाना चित्रो का चित्रण हुआ था। यह सभा-वेश्म लगभग ६० फुट चौकौर है। इस के स्तम्भ, कुड्य अर्थात भित्ति-या सभी चित्रो से चित्रित थे, पर तु बहुत से चित्र नष्ट हो गये हैं। इन चित्रो मे अज ता और सिगिरिया दोनो का मिश्रण प्राप्त होता है—एक ओर कुछ बौद्ध धर्म प्रतीक चित्र, दूसरी ओर धर्म निरपेक्ष चित्र। बौद्ध चित्रो में बौद्ध धर्म के इस देश मे ह्रास कालीन अवस्था के चित्रण है। एक सगीत-नाटक (हल्लिसक) पूर्ण तत्कालीन स्वातन्त्र्य एव स्वाच्छन्द्य का निदर्शन है। अब चलें हिन्दू काल की ओर, जहा महाकाल तथा श्रो सत अकाल के भी दर्शन हो सकते हैं, क्योकि जैसा हम पहले सकेत कर चुके हैं कि हिन्दू चित्र-कला से तात्पर्य राज-पूत-कला का अर्थ है। और यह राजपूतानी कला न केवल राज-स्थान की देन है वरन पजाब (देखिये कागडा) की भी प्रमुख देन है।

हिन्दू-काल (७००-१६००)—इस काल मे नाना सम्प्रदायो एव पन्थों के निदर्शन मिलते हैं। ये चित्र ताल-पत्र की प्रथम विशेषता हैं। इस का प्रारम्भ बगाल मे हुआ, जो १२वी शताब्दी के निदर्शन हैं। पुन १५वी शताब्दी मे जैन-ग्रन्थ-चित्रण (Book Illustration) काफी प्रसिद्ध एव सिद्ध-हस्त चित्रकार भी थे। जहा तक ब्राह्मण-चित्रो की बात है वह १२वीं शताब्दी मे एलोरा के गुहा-मन्दिरों से प्रारम्भ हुई। इसी प्रकार और बहुत से इस काल मे यत्र-तत्र-सवत्र चित्र प्राप्त हुए हैं, जो पूर्व-मध्य काल एव मध्य काल की स्मृतिया हैं। राजपूती चित्र-कला तो उत्तर-मध्यकाल की कृतिया हैं। अब हम इस साधारण प्रस्तावना के उपरान्त वैयक्तिक निदर्शन प्रस्तुत कर रहे हैं।

जन-चित्र—ताल पत्र पर हस्तलिखित निशीथ चूर्णी जो चित्रों से चित्रित है वह जैन-भाण्डागार म प्राप्त है तथा यह कृति ११वी शताब्दी मे सिद्धराज जयसिंह के राजत्व-काल मे सम्पन्न हुई। यह ताल पत्र चित्रण ११वी स लेकर १४वी तक चलता रहा। इन म अंग-सूत्र त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित श्री नेमिनाथ-चरित श्रावण प्रतिक्रमण-चूर्णी—ये सब ११वी से १४वी शताब्दी तक क निदशन है। अब आइये (१४००-१५००) जन चित्रों की ओर। उनम कल्प-सूत्र, कालकाचाय-कथा तथा सिद्ध हम—ये सभी चित्रित हस्त लिखित ग्र थ है जो पाटन आदि प्रसिद्ध जैन भाण्डागारो मे प्राप्त ह। अभी तक हम ताल-पत्र पर चित्रित इन इलस्टटड म्यनुस्क्रिप्ट्स की अवतारणा कर रहे थे। अब आइये कगल-पत्र पर चित्रित हस्त-लिखित ग्रन्थ। ज्यो ही १५वी ई० क उपरान्त कागज का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो फिर जैन चित्रो का एक नया युग प्रारम्भ हो गया। इन म कल्प-सूत्र तथा कालकाचाय-कथा असख्यो पत्र-चित्रणो क साथ साथ हिन्दू प्रेम-मय गाथा काव्यो के भी चित्रण प्रारम्भ हो गये, जिनमे बसन्त विलास एव रति-रहस्य क साथ साथ स्तोत्र एव स्तुति-परक ग्रन्थ जैसे बालगोपाल-स्तुति तथा दुर्गा-सप्त शती ऐसे प्रसिद्ध पौराणिक ग्रन्थ भी चित्रणो स भर गय। इन सभी चित्रो म रैखिक चित्रो की सुन्दर आभा दशनीय है। ये Oblong Frame के निदशन हैं। रक्त, स्वर्णिम, पीत, श्याम, शुभ्र, नीली, हरित तथा अन्य सभी शुद्ध एव भिन्न वर्णों का पूर्ण विन्यास दशनीय है।

अस्तु इस पूव एव उत्तर मध्यकाल मे यत तक्षण (मूर्ति-निर्माण) एव प्रासाद-वास्तु का चरमोन्नति काल था अत ये बेचारी चित्र-कला एक प्रकार से कुछ धीमी पड गयी। तथापि यह कला मरी नही। यह कला द्वीपान्तर भारत एव सीमावर्ती देशो मे एक प्रकार से प्रयाण कर गई। वहा पर इस कला क बडे ही प्रौढ निदशन प्राप्त होते हैं। पूर्वी तुरकिस्तान (खोटान) तथा तिब्बत में जो चित्र-कला विकसित हुई उस पर अजन्ता की कारीगरी पूर्ण रूप से प्रति-बिम्बित दिखाई पडती है। स्टीन और ली काग के इन चित्र-अन्वेषणो ने समस्त ससार को मुग्ध कर दिया है कि एशियाई चित्र-कला कितनी प्रवद्ध थी। कुड्य-चित्रो के अतिरिक्त कुण्डली-चित्र-पट-चित्र एव पट्ट-चित्र सभी भेद इन चैत्यो, मन्दिरों एव विहारो विशेषकर तिब्बती पीठो मे काफी सख्या में प्राप्त होते हैं। अब आइये राजपूतानो चित्रकला की ओर।

राजपूत चित्र-कला—राजपूती तथा मुगली दोनो ही चित्र कलायें समानान्तर चलने लगी थी। इन दोनो कलाओ का उद्भव १६वी ईसवी शताब्दी (१५५०) मे प्रारम्भ हुआ था। राजपूती तो १६वी शताब्दी तक चलती रही, परन्तु मुगली १८वी मे मर गई, क्योकि यही काल मुगलो के काल की इतिश्री थी।

राजपूती कला पर पूर्ण प्राचीन शास्त्र एव कला दोनो का प्रभाव था। यद्यपि अजन्ता का प्रभाव अवश्य दिखाई पडता है तथापि नवीन उपचेतनाओ तथा उद्भावनाओ का भी इस मे प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत होता है। अत बुद्ध धर्म एक प्रकार से इस समय खतम था तो हिन्दू धर्म के पुनरावर्तन (Revival) मे स्वाभाविक चेतनाओ के द्वारा इस कला का विकास स्वत सिद्ध है। यह युग शिव-पूजा शिव-माहात्मय तथा विष्णु-पूजा एव विष्णु माहात्म्य का था। भक्ति धारा एक भागीरथी की उद्दाम गति से बहने लगी। राधा कृष्ण लीला का यह युग था, जिस मे रास-लीला, नायक-नायिका लीला बडे ही प्रकर्ष को प्राप्त हो गयी। शिव पार्वती, सन्ध्या-गायत्री, रामायण एव महाभारत के आख्यान चित्र ये सब राजस्थानी कला के परम निदर्शन हैं। अत ये सब चेतनायें जन-भावना की प्रतीक थी। अत यह चित्र-कला राजस्थान मे एक प्रकार से दैनिक व्यवसाय तथा अध्यवसाय हो गया था। राजस्थान का प्रमुख नगर जयपुर इस राजपूती कला का केन्द्र बन गया। अतएव इस राजस्थानी चित्र-कला को जयपुर कलम की सज्ञा से चित्रकार पुकारने लगे। ये राजस्थानी चित्रकार दरबार के अभिलाषुक थे। पुन मुगल दरबार की राजधानियो उप-राजधानियो जैसे दिल्ली आगरा लाहौर आदि नवाबी शहरो मे भी यह कला अपनी विशिष्टता से पूर्ण होती रही।

राजपूती चित्र-कला सर्वाधिक प्रकर्ष पजाब की हिमाचल उपत्यकाओ मे एक नवीन प्रकर्ष पर आसीन हो गयी। कागरा की चित्र-कला इस युग की महती देन मानी गयी है। जिस प्रकार जयपुर कलम, उसी प्रकार कागरा कलम से यह राजपूती चित्रकला विश्रुत हुई। इस पजाबी राजपूती कला मे रैखिक कर्म, वर्ण-विन्यास तथा प्रोज्ज्वल भगिमा छाया-कान्ति आदि सभी षडग-चित्र के सिद्धान्तो एव प्रक्रियाओ का पूर्ण आभास एव विलास प्राप्त होता है।

इस कागरा केन्द्रीय राजपूती चित्र-कला की सब से बडी विशेषता

राजश्रय थी प्रदगीय (Local) आवश्यकताओ एव चेतनाओ तथा रस्म-रिवाजो का भी इन चित्रणो मे साक्षात प्रतिबिम्बन है। पहाडी राजाओ की आज्ञा ही चित्रकार के लिए उसका सब से बडा अध्यवसाय था। अतएव इन चित्रो म राजसी—राजा रानियो के बहुत से चित्र प्राप्त होते हैं। साथ ही साथ पौराणिक एवं भागवतिक चित्र भी प्रचुर सख्या मे प्राप्त होते हैं।

दुर्भाग्य का विलास था कि धम शाला के भू कम्प विप्लव से इन समस्त चित्र-केन्द्रो एव उनम विनिर्मित, सग्रहीत असख्य चित्र नष्ट हो गये, भूगत मे विलीन हो गये तथा यह बडी थाती नष्ट-प्राय हो गई। यह घटना १६०५ ई० की है। अब आइये मुगल कला की ओर।

मुगल चित्र-कला—राजपूती चित्र कला धार्मिक जनोपयिक तथा रहस्यवादी कला थी जहा मुगली चित्र-कला नवाबी तथा यथार्थवादी कही जा सकती है। मुगल सम्राट अकबर क दरबार मे यह कला प्रारम्भ हुई, क्योकि कला सरक्षक अकबर की इन कलाओ मे बडी रुचि थी, अतएव अनेक विदेशी कलाकार तथा चित्रकार अकबर क दरबार म आ बिराजे। ईरान फारस, समरकन्द आदि स्थानो मे प्रोल्लसित चित्र-कला-केन्द्रो म शिक्षित एव दीक्षित चित्रकार इस दरबार के रत्न बन गए। अबुल फजल की आइने-अकबरी म इन चित्रकारो की बडी सख्या का निर्देश है। फरूख अब्द-अल-समद, शेराजी, मीर सय्यद आदि अकबरी दरबार के चित्रकार-रत्न थे। जहागीर ने भी इस कला को बहुत प्रोत्साहन दिया और उस समय समरकन्द के कई चित्रकार यहाँ आ पहुचे। शाहजहा विशेषकर स्थापत्य म तल्लीन हो गया तो इस चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ हो गया। पुन औरगजेब तो इन कलाओ का पूर्ण उन्मूलन का दोषी बना।

यद्यपि मुगल चित्र कला पर ईरान का अमिट प्रभाव है, तथापि देश की सस्कृति एव जनीन धारा का प्रखर प्रभाव कभी कोई हटा नही सकता। अत यह कला इस देश की इन दोनो धाराओ म समन्वित होकर विलसित हुई। बहुत से मुगल चित्र-कला के विख्यात हिन्दू चित्रकार भी इस कला को प्रोल्लास देने के श्रेय-भागी हैं। इन म बसवन, दशवन्त, केशोदास आदि चित्रकार विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन मुगली चित्रो की सबसे बडी विशेषता चित्र फलक हैं। मृगया एव

युद्ध भी इन चित्रो के प्रमुख अग हैं। दरबार तथा एतिहासिक इतिवृत्त भा इन चित्रो के पूर्ण अग है। यद्यपि इस कला का प्रथम विकास ईरानी कलम से प्रारम्भ हुआ पर तु काला तर पाकर इस कला का प्रोल्लास, जैसा पहले हम सूचित कर चुके है दहली कलम लखनवी कलम, पटना कलम काश्मीरी कलम आदि अवान्तर कलमा म प्राप्त होता है। अत मुगली कला काफी प्रवद्ध एव प्रोल्लसित हो गयी।

एक प्रश्न यह है कि क्या मुगल कला ने ही Portrait Pain ing का प्रारम्भ प्रदान किया—नही। चित्र-फलक चित्रण महाभारत की कहानी से स्पष्ट है। चित्र-लेखा (प्रथम चित्रकार) ने अपनी सहेली उषा के स्वप्न युवक का प्रथम फलक-चित्र Portait Painting का श्रीगणश किया था। बौद्ध इतिहास से भी हम अपरिचित नही कि जब भगवान बुद्ध के घोर अनुयायी एव भक्तप्रवर महाराज अजातशत्रु ने अपने मास्टर के चित्र की प्रार्थना की ता उन्होने केवल अपनी पट पर पडती हुई छाया क चित्र को चित्रित करन क लिये ही स्वीकृति प्रदान की तो तत्कालीन प्रवुद्ध चित्रकार ने उस छाया म इस विधा क चित्र को तूलिका क द्वारा वर्ण-वि यास मे परिणत कर ऐसे चित्र का निर्माण कर दिया। अज ता के भी ऐसे Portraits को दखें जिनकी महिमा पर पहले ही कुछ इगित कर चुके है।

इस किञ्चित्कर व्यक्ति-चित्रो के इतिहास पर इस थोड से उपोद्घात क अनन्तर हम यह अवश्य मानेंगे कि मुगलो की चित्र-कला ने इस चित्र विधा पर बडी भारी उन्नति की। राजाओ, महाराजो, नवाबो रानियो, दरबारियो क वयक्तिक चित्रो मे जो आभा प्रदर्शित की है, वह सत्रप्रमुख इन चित्रो की विशेषता है। पूरा आकार-प्रतिविम्बन इस प्रमुख विशषता के साथ महापुरुष लाञ्छन (मण्डल-प्रभा) तथा राज चि ह आदि भी इन चित्रो के बडे अपर्पा धायक अग हैं। इन मुगल-कालीन चित्रो मे नतकियो, वश्याओ, साधुओ सन्तो, सिपाहियो दरबारियो सभी के वैयक्तिक चित्रो की प्राप्ति हाती है। इस प्रकार यह मुगल चित्र-कला यथानाम मुगलकला नही है इसे हम राष्टीय चित्र-शाला के नाम से पुकार सकते है और इसकी अभिख्या अ राष्ट्रीय कीर्ति-प्रस्तर पर मल्याकन हो सकती है।

•१८वीं शताब्दी (१७६० ई०) में जब यह मुगल कला मुगल-साम्राज्य क साथ ह्रास को प्राप्त हुई तो यहा के कुछ समझदार कला-प्रेमियो ने इसके

पुनरुत्थान के लिए प्रयत्न किया । कला का पुनरुत्थान जब इस आधुनिक युग मे प्रारम्भ हुआ तो इस मे सबसे बडी प्रेरणा रसास्वादन आदर्श (Aesthetic Ideal) की ओर था । अवनीन्द्र नाथ टैगोर को ही इस उद्भावना का श्रेय है। इस प्रकार बगाल के साथ साथ दिल्ली लखनऊ पजाबी पहाडी कलाक—पजाब खास कर लाहौर तथा अमृतसर अपना इन उत्तरापथ प्रदेशो के साथ साथ दक्षिण भारत मे भी जैसे औरंगाबाद दौलताबाद, हैदराबाद और निकोडा म भी यह आधुनिक कला अपने पुनरुत्थान पर पहुच गई । तारानाथ ने अपने चित्र कला-इतिहास मे दक्षिण के प्रसिद्ध-कीर्ति तीन चित्र-कारो म जय पजय तथा विजय का नामोल्लेख किया है। इनके बहुत से अनुगामी भी थ । दुर्भाग्य वश इनके समय के सम्बन्ध म कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही उपस्थित होता । आगे चलकर इस दक्षिण भारत क दो प्रसिद्ध चित्र-पीठ पनप उठे जिनको तजौर और मैसूर के नाम से कीर्तित करते है।

अवनीन्द्र नाथ ने यद्यपि इस दिशा मे स्तुत्य प्रयत्न अवश्य किया परन्तु मुझ यह कहने म सकोच नही है कि उन्होने अपनी पुरानी थाती अथवा शास्त्रीय सिद्धान्त एव परम्परागत कला प्रक्रिया इन दोनो को चन्द्र हस्त देकर योरप के अनुगामी होने का बीडा उठाया । इस कदम ने भारत की चित्र-कला को इस नवीन सम्प्रदाय ने एक प्रकार से धूल धूसरित कर दिया। पौर्वात्य एव पाश्चात्य इन दोनो कलाओ की अपनी अपनी मूल भित्तिया थी और दोनो मे काफी मौलिक भेद भी थे । अत इन दोनो का मिश्रण करना सिद्धान्त एव कला-प्रक्रिया की दृष्टि से यह बहुत बडा गलत कदम था । अत इस युग मे हमारे पुराने चित्र नही रह । मुझ यह कहने मे सकोच नही कि आज जहा भी विश्वविद्यालय अथवा चित्र-विद्यालय अथवा कला विद्यालय की ओर जाइये वहा सभी स्थानो पर न तो किसी को प्राचीन चित्र-शास्त्रीय सिद्धान्तो का ज्ञान है न आस्था है । वे भी पश्चिम क पीछे परछाई की दौर प्रयास कर रहे हैं। यह सब विडम्बना है । आशा है आज नही तो कल वे अपने इस पुराने अत्यन्त प्रवृद्ध पारिभाषिक ज्ञान का सहारा लेकर ही अपनी कला को विश्व के सामने रखने मे समर्थ हो सकेंगे ।

साहित्य-निबन्धनीय चित्र-कला के इतिहास पर एक सिंहावलोकन

उपोद्घात —ग्रीक माइथोलोजी में म्यूजज आफ फाइन आर्टस भूतल पर एक के बाद एक नयी उतरी। क्या हमारे देश में भी महामाया भगवती सरस्वती तथा महामायिक भगवान नटराज शिव भी क्या एक के बाद दूसरे स्वर्ग से भूतल पर उतरे ? ताण्डव नृत्य अतिप्राचीन है। काव्य, नाट्य, संगीत भी अतिप्राचीन है। तद्वत वास्तु, शिल्प एवं चित्र भी उतने ही प्राचीन हैं। ये ललित कलायें सभ्यता एवं संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। अतः पुरातत्वीय उपोद्घात में हमने संकेत किया है कि यह मनोरम-कला चित्र-कला—क्या साहित्यिक क्या पुरातत्वीय दोनों स्तरों पर एक प्रकार से समानान्तर सुदूर अतीत से चली आ रही है ? पुरातत्व स्तर से इसकी समीक्षोपरान्त अब हम साहित्यिक-निबन्धनीय इतिहास पर आते हैं हमने अपने अंग्रेजी के ग्रन्थ में जो निम्न आकूत प्रस्तुत किया है उसको पाठक एवं विद्वान् दोनों ही अवश्य ही समर्थन करेंगे—

If the savages could work sculpture and build branch-houses prepare implements paint the cavewalls (their refuse) and do many other things painting and allied arts must have been the time-honoured companions in the progress of civilisation throughout the ages

अस्तु अब हम वैदिक वाङ्मय से प्रारम्भ करते हैं।

वैदिक वाङ्मय —ऋग्वेद की बहुत सी ऋचाओं में चित्र-कला की स्पष्ट भावनायें प्राप्त होती हैं। उपनिषदों में बहुत से ऐसे वाक्य प्राप्त होते हैं जैसे छान्दोग्य में इसी का ४ ४ पढ़ तो वहां पर रक्त, शुभ्र, श्याम वर्णों पर यद्यपि उनकी प्राज्ज्वलता से ऐदम्पर्य नहीं परन्तु 'रूप' से है जो कि चित्र-कला का प्रमुख अंग है।

पाली वाङ्मय—विनय-पिटक में वर्णित राजा प्रसेनजित के विलास-भवन में चित्रागारों के बड़े सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं। विनय-पिटक का समय ईसवीय पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी है। संयुक्त निकाय में पट्ट-चित्रों पर चित्रित पुरुष एवं स्त्री चित्रों के सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं। विविध चित्र-प्रकारों पर यह सन्दर्भ अति प्राचीन माना जा सकता है। जातक-साहित्य में भी इस प्रकार के बहुत से सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। अब आइये रामायण और महाभारत की ओर।

रामायण एवं महाभारत—आदि-कवि वाल्मीकि-कृत रामायण पढ़िये,

जिस में कोई भी ऐसा विमान, सौध, प्रासाद का वर्णन बिना चित्र भूषा के नहीं पाया गया है। राज-भवनो के विन्यास मे चित्रागार अभिन्न अग थे। महाभारत में कुमारस्वामी ने लगभग १०० चित्र-सन्दर्भों का सकलन किया है। तारानाथ को इस सम्बन्ध मे हम ने इस ग्रन्थ मे दो तीन बार स्मरण किया है। तारानाथ तिब्बती इतिहास - लेखक १७वी शताब्दी मे पैदा हुए थे जिन्हों ने चित्र कला को अति-प्राचीन माना है अर्थात् देवो की चित्रकला, यक्षो की चित्रकला तथा नागो की चित्रकला।

पुराण—पुराणो मे चित्र कला के सम्बन्ध मे असख्य सदर्भ भरे पडे हैं। पुराणो की चित्र-कला के शास्त्रीय प्रतिपादन मे सब से बडी देन पुराणो की है। महा-विष्णु-पुराण के विष्णु धर्मोत्तर के चित्र-सूत्र से सभी कला विज्ञ परिचित हैं।

शिल्प-शास्त्र—शिल्प-शास्त्रीय चित्र-प्रतिपादन मे हम इस अध्ययन के प्रथम स्तम्भ में पहले ही सकेत कर चुके हैं। अब आइये कवियों और काव्यो पर। वैसे तो प्राय सभी नाटको तथा काव्यो मे चित्र-कला के सम्बन्ध मे बहुत से सन्दर्भ प्राप्त होते हैं परन्तु कालानुरूप हम केवल कवि-पुगवो को लेते हैं जो निम्नतालिका से विवेच्य हैं —

१	कालिदास	२	बाणभट्ट	३	दण्डी
४	भवभूति	५	माघ	६	हर्ष-देव
७	राजशेखर	८	श्रीहर्ष	९	धनपाल
१०	सोमेश्वर सूरि				

कालिदास—कालिदास के तीनो नाटको में तीनो प्रमुख कलाओं का पूर्ण प्रतिबिम्बन प्राप्त होता है। मालविकाग्नि-मित्र नृत्य का, विक्रमावर्शीय सगीत का तथा अभिज्ञान शाकुन्तल चित्रकला का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तीनो नाटको से उद्धृत निम्न अवतरणो को पढिए, जिन से पूरे का पूरा शास्त्र एव तदनुप्राणित कला करामलकवत दिखाई पडती है। चित्राचार्य, चित्रागार, चित्र-प्रकार, वर्तिका-नैपुण्य, चित्र भूमि-बन्धन वर्ण विन्यास तूलिका लेखन छाया-कान्ति क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त, चित्रो मे मुद्रा-विनियोग आदि आदि सभी विषयो पर ये उदाहरण साक्षात मूर्तिमान् चित्र-विधान के प्रत्यक्ष निर्देशन हैं —

चित्रशाला

'चित्रशाला गता देवी प्रत्यग्रवणरागा चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति'—माल० १

'विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः प्रासादास्त्वां तुलयितुमलम्'—मेघ०

चित्राचार्य

चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति'—माल०

चित्र

(क) फलक चित्र (Portraits) —

'तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथञ्चिद्बालत्वादवितथसूनतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥'—रघु०
'बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ।'—रघु०
'सखि! प्रणम भर्तारं, ननु पार्श्वतः पृष्ठतः दृश्यते ।'—माल०

(ख) भावगम्य-चित्र —

'मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।'—अभि०

(ग) याथातथ्य-चित्र —

अहो राजर्षेर्वर्तिकानिपुणता । जाने मे सखी अग्रतो वर्तत इति'—अभि०

(घ) प्रकृति-चित्र —

'कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्' ॥—अभि०

(ङ) पत्रालेखन-चित्र —

'रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम् ।
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥—मेघ०

(च) अंग-लेखन-चित्र :—

'हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥'

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥

भूमि-बन्धन (पट्ट चित्रीय) —

'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥'—मेघ०

भूमि बन्धन (कुड्य-चित्रीय)—

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥—रघु०

वर्तना-प्रक्रिया

(अ) भूमि-बन्धन —

'ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशाङ्कार्धमुखेन पत्रिणा शरासनज्यामलुनाद्विडौजसः ॥

(ब) अण्डकवर्तन एवं मानसिक-कल्पन —

'चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥'

तूलिका-उन्मीलन

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥—कुमा० १ ३२

क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त

स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोतप्रदेशेषु'—अभि० ४

वर्तिका

दे० अभि० शा० 'वर्तिकानिपुणात् ।
दे० अभि० शा० 'वर्तिकोच्छ्वसा च' अंक ६।

चित्र-द्रव्य

देखिये अभि० शा० अ० ६ — 'वर्णिका-करण्ड'—A Colour Box to preserve colours in ॥

चित्र-वर्णा —शुद्ध-वर्णा

पातासितारक्तसितै मुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
प्रमत्तग घवपुगेदयभ्रम बभार भूम्नोत्पतितैरितस्तत ॥ —कुमा०
'नेत्रा नीता सततगतिना यद्विमानप्रभूमी-
रालेख्याना स्वजलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्य ।
शङ्कास्पृष्टा इव जललवमुचस्त्वादृशो जालमार्गे-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥'—मेघ०
'स्विन्नागुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिन ।
अश्रु च कपोलपतित लक्ष्यमिद वर्तिकोच्छ्वासात ॥'—अभि०

चित्र-मुद्रा

व्यूह्यस्थित किंचिदिवोत्तरार्धमुन्नद्ध चूडोऽञ्चितसव्यजानु ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रे स विनीयमान ॥—रघु० १३ ५१
'स दक्षिणापागनिविष्टमुष्टि नतासमाकुञ्चितसव्यपादम' —कु० ३
तस्य निदयरतिश्रमालसा कण्ठसूत्रमपदिश्य योषित ।
अध्यशेरत बहद्भुजान्तर पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥—रघु० १९ ३२

चित्र्यावयव

व्यूढोरस्को वृषस्कन्ध सालप्रांशुमहाभुज ।
आत्मकर्मक्षम देह क्षात्रो धर्म इवाश्रित ॥ —रघु० १ १३
युवा युगव्यायतबाहुरसल कपाटवक्षा परिणद्धकन्धर ।
वपु प्रकर्षादजयद् गुरु रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥—रघु० ३ ३३
वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जघे शुभे सृष्टवतस्तदीये ।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्यमुत्पाद्य इवास यत्न ॥—कुमा० १ ३५
दीर्घाक्ष शरदिन्दुकान्तिवदन बाहू नतावसयो
सक्षिप्त निविडोन्नतस्तनमुर पार्श्वे प्रमृष्टे इव ॥

मध्य पाणिमितो नितम्बिजधन पादावरालागुली ।
छदो नर्तयितुर्यथैव मनस श्लिष्ट तथास्या वपु ॥—माल० २ ३

चित्र-प्रतीकावलम्बन

'राजा—वयस्य ! अयच्च, शकुन्तलाया प्रसाधनमभिप्रतमत्र विस्मृत-मस्माभि ।
विदूषक —किमिव ?
सानुमती—वनवासस्य सौकुमार्यस्य च यत सदृश भविष्यति ।
राजा—कृत न कर्णार्पितव धन सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमल मृणालसूत्र रचित स्तनान्तरे ॥—अभि०
'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिक हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम् —अभि० १
'सखि, रोचते ते मेऽय मुक्ताभरणभूषितो
नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेश '—विक्र० ७
वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धु ।
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्र शिभिर्जीर्णपर्णै ॥
सौभाग्य ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती ।
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्य ॥'—मेघ०
त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वय कदाचिदेते यदि योगमहत ।
वधूदुकूल कलहसलक्षण गजाजिन शोणितबिन्दुवर्षि च ॥- कुमा० ५ ६७
'आमुक्ताभरण स्रग्वी हसचिह्नदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्य स राज्यश्रीवधूवर ॥—रघु० ११ २५
'सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगरूपायै ।
हरिरिव युगदर्घैर्दोर्भिरशैस्तदीयै पतिरवनिपतीना तैश्चकाशे चतुर्भि ॥'
—रघु० १० ८६

'वित्तेशाना न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ।'—मेघ०
'सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्ग ।'—मेघ०
'न दुवहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दा गतिमश्वमुख्य ॥—कुमा० १

चित्र-विषय-क्षेत्र-उद्देश्य

'सखि ! तदा ससम्भ्रमसमुत्कण्ठिताहृ भर्तृरूपदर्शनेन तथा न वितृष्णास्मि

यथाद्य विभावितश्चित्रगतदर्शनो मर्ता ।'—माल० ४

'अये ! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनश्चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरण-विनियोग करोति ।' —अभि० ४

'प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसदर्शताभ्य समधिकतररूपा शुद्धसतानकामै ।
'अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवो राजकन्या ।"

—रघु० १८ ५३

चित्र-दर्शन (Philosophy of the Fine Arts)

'यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यरेखया किञ्चिदन्वितम् ।।'—अभि०
'चित्रगतायामस्या कान्तिविसवादशकि मे हृदयम् ।
सप्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनयमालिखिता ।।'—माल० २,
'पात्रविशेषे न्यस्त गुणान्तर व्रजति शिल्पमाधातु ।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलता पयोदस्य ।। —माल० १

बाण भट्ट

हमने अपने इस अध्ययन मे पहले ही लिख दिया है कि 'बाणच्छिष्ट जगत्-सर्वम् का क्या अर्थ है ? बाण-विरचिता दिव्या कादम्बरी तथा राजसी हर्षचरित—इन दोनों महाकाव्यों मे चित्रो का विलास पद पद पर दिखाई पड़ता है । बाण का वर्ण-चित्रण वर्ण-भेद शिल्प रत्न के निम्न उद्धरण का पूर्ण प्रमाण है —

जगमा स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये ।
तत्तत्स्वभावतस्तेषा करण चित्रमुच्यते ।।'

बाण-भट्ट ने अपनी जीवनी पर (देखिये ह० च) जो लिखा है, उसमें बाण के साथियो की तालिका देखिये, उसमे चित्रकृद्वीर-वर्मा का उल्लेख है । अत उनका पर्यटन बिना चित्रकार के पूर्ण नही था ।

बाण-भट्ट के राज-भवनों के वर्णन मे जो चित्र-शालायें वर्णित हैं वे विमान-शैली पर निर्मित प्रतीत होती हैं । नारद-शिल्प मे जो चित्र-शाला का शास्त्रीय विवेचन है, उसी के आधार पर ये विभाव्य हैं । निम्न उद्धरणो को पढिये जिस मे चित्र-विषय, **चित्र-प्रकार**, भूमि-बन्धन, द्रव्य प्रक्रिया, दर्श-

वत्यास आदि आदि सभी शास्त्रीय सिद्धान्त मूर्तिमान् दिखाई पडते है

चित्र-शाला-निर्माण

'सरासुरसिद्धग न्धर्वविद्याधरोरगाध्यासिताभिश्चित्रशालाभि
दिव्यविमानपङ्क्तिभिरिवालङ्कृता ।'—का पृ ६६

चित्र-शिल्पाचार्य

'सकलदेशादिश्यमानशिल्पिसार्थागमनम् ।'—ह च १४२
'सितकुसुमविलेपनवसनसत्कृते सूत्रधारे ।'—ह च १४२

चित्र-प्रकार

कुड्य—'चित्रलेखादर्शितविचित्रसकलत्रिभुवनाकाराम् —का १७६
'आलेख्यगृहैरिव बहुवर्णचित्रपत्रशकुनिशतसनाथैः'—का २४७
'प्रविवेश च द्वारपक्षलिखितरतिपतिदैवतम् ।'—ह १४८
,सुप्तया वासभवने चित्रभित्तिचामरग्राहिण्योऽपि चामराणि चालयाञ्चक्रुः ।'
—ह १२७
आलेख्यक्षितिपतिभिरप्यप्रमणद्भिः सतप्यमनचरणौ ।'—ह १३६
'दिवसावसानेषु— चित्रभित्तिविलिखितानि चक्रवाकमिथुनानि ।।'—का ४४६

फलक (Portraits) —
प्रत्यग्रलिखितमङ्गल्यालेख्योज्ज्वलितभित्तिभागमनोहराणि' ।—का १३६
'चतुरचित्रकरचक्रवाललिख्यमानमङ्गल्यालेख्यम् ।।—ह १४२
'चित्रावशेषाकृतौ काव्यशेषनाम्नि नरनाथे । —ह १७५
प्रविशन्नेव—चित्रवति पट—कथयन्त यमपट्टिक ददर्श'—ह १५३

पट-चित्र —
'वासभवने मे शिरोभागनिहित कामदेवपट पाटनीय ।'—का ५३६

पट्ट-चित्र —
'यमपट्टिका इवाम्बरे चित्रमालिखन्त्युद्गीतका ।'—ह १३७

शिला-चित्र —
'यत्र च स्नानार्थमागतया—विलिखितानि त्र्यम्बकप्रतिबिम्बकानि
वन्दमाना ।'—का २६२

चित्र-द्रव्य-वर्ण-कूर्चक

वर्तिका—कालाञ्जन-वर्तिका —

कपोलेल्यो मीलनकालाञ्जनवर्तिका ।'—का ४५५

वर्णसुधाकूचकैरिव करधवलितदशाशामुखे चन्द्रमसि ।'—का ५२७

कूचक — 'इन्दुकरकूचकैरिवाक्षालिताम् ।'—का २४६

वर्ण-शुद्ध-कूचक —'वही' ।

तूलिका —'अवलम्बमानतूलिकालाबुकाश्च..."—ह २१०

वर्ण पात्र (वर्ण-करण्डक) —'अलाबु' ।

चित्र-प्रक्रिया-आधार—भूमि-बन्धन

कुड्य-भूमि-बन्धन —

'उत्थापितामिनवभित्तिपात्यमानबहलवालुकाकण्ठकालेपाकुलाले-
पकलोकम् ।'—ह १

'उत्कूचकैश्च सुधाकपरस्कन्धैरधिरोहिणीसमारूढैर्धवलीक्रियमाणप्रासा
प्रतोलीप्राकाराशिखरम् ।'—

चित्र-फलक-बन्धन —

'आलिखिता चित्रफलके भूमिपालप्रतिबिम्बम्'—का १७२

प्रमाण एव अण्डक-वर्तन —

'वत्सस्य यौवनारम्भसूत्रपातेरखा ।'—का ४६६

छाया-कान्ति—चित्रोन्मीलन

'कपालल्यो मीलनकालाञ्जनवर्तिका । —का ४५५

'प्रातश्च तदुन्मीलित चित्रमिव च आपीडशरीरमवलोक्य ।' —का ५४८

पत्र लेखनादि ---

'उभयतश्च—पुरन्ध्रिवर्गेण समधिष्ठितम् ।'—१४३

'बहुविधवर्णकादिग्धागुलीभिर्ग्रीवासूत्राणि च—समन्तात्सामन्तसीमन्तिन
भिर्व्याप्तम्-ह १४

चित्र-वर्ण विन्यास-बाहुल्य

मूल वर्ण—शुद्ध-वर्ण —

शुभ्र-वर्ण —'हरिलालशैवावदातदेह'

'हंसधवला धरण्यामपतज्ज्योत्सना'
'हिमकरसरसि विकचपुण्डरीकसिते'
'अभिनवमिलितसिन्दुवारकुसुमपाण्डरै'
'कर्णिकारगौरेण बौध्रकञ्चुकच्छन्नवपुषा
'बकुलसुरभिनि श्वसितया चम्पकावदातया'
'दन्तपाण्डरपादे शशिमय इव'
'पीयूषफेनपटलपाण्डरेण'
'शङ्खक्षीरफेनपटलपाण्डरम'
विकचकेतकीगर्भपत्रपाण्डर रज सघातम

रक्त-वर्ण —

'तस्य चाधरदीधितयो विकसितबन्धूकवनराजय'
कुङ्कुमपिञ्जरितपृष्ठस्य चरणयुगलस्य
'कुसुम्भरागपाटल पुलकबन्धचित्रम
'रुधिरकुतूहलिकेसरिकिशोरकलिह्यमानकठोरघातकीस्तबके
'लोहितायमानमन्दारसिन्दूरसीम्नि'
'माञ्जिष्ठरागलोहिते किरणजाले'
'बालातपपिञ्जरा इव रजय'
'पारावतपादपाटलराग'

हरित-वर्ण –

'शुकहरितं कदलीवनं'
मरकतहरितानां कदलीवनानाम्'
'तरुणतरतमालश्यामले'

धूरा (gray) वर्ण —

'कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा—धूमपटलेनेव'
'रासभरोमधूसरासु'
'वनदेवताप्रासादाना तरूणां—तपोवनाग्निहोत्रधूमलेखाभु'
'कपोतकण्ठकर्बुरे—तिमिरे'
'दाफरोदरधूसरे रजसि'

भूरा (brown) वर्ण —

'गोरोचनाकपिलद्युति '

'हरितालकपिलपक्ववेणुविटपरचितवृतिभि ।'

'सन्ध्यानुबन्धताम्रे परिणततालफलत्विषि कालमेघमेदुरे'

'धूसरोचक्र श्मेलकक्चकपिला पांसुवष्टय '

'गोधूमधामाभि स्थलीपृष्ठैरधिष्ठित।'

श्याम वर्ण –

'अर महिषमषीमलीमसि तमसि'

'गोलाङ्गूलकपोलकालकायलोम्नि नीलसिन्धुवारवर्णे वाजिनि'

'चाषपक्षत्विषि तमस्युदिते'

शबल-वर्ण –

'आचमनशुचिराचीतिमुच्यमानार्चनकुसुमनिकरशारम्'

'आभरणप्रभाजालजायमानानीन्द्रधनु सहस्राणि ।'

'पाकविशरारूराजमाषविकरकिर्मीरितैश्च'

'शबलशार्दूलचर्मपटपीडितेन'

'तिर्यङ् नीलधवलांशुकशाराम् ।'

मिश्र-वर्ण—अन्तरित वर्ण —

स्कन्धदेशावलम्बिना कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा तपस्तृष्णातिपीतेनान्त-निपतता धमपटलेनेव परीतमूर्ति '

'सरस्वत्यपि शप्ता किञ्चिदधोमुखी धवलकृष्णशारा दृष्टिमुरसि पातयन्ती'

'आकुलाकुलकाकपक्षधारिणा कनकशलाकानिर्मितमप्यन्तरगतशुकप्रभाश्यामा-यमान मरकतमयमिव पञ्जरमुद्वहता चाण्डालदारकेणानुगम्यमानम् '

आमत्तकोकिललोचनच्छविर्नीलपाटल कषायमधुर प्रकाममापीतो जम्बू-फलरसस '

शरीरामय—चित्रवर्ण (anatomical delineation) –

चमु कुरङ्गकैर्धोणावदा वराहै स्कन्धपीठ महिषै प्रकोष्ठबन्ध व्याघ्रै पराक्रम केसरिभिर्गमन–माधवगुप्तम्

'सद्य एव कुन्तली किरीटी कुण्डली हारी केयूरी मेखली क्षुद्घरी खगी च खूवावाप विद्याधरत्वम'

देवताप्रणामेषु मध्यभागभङ्गो नातिविस्मयकर'

'भङ्गभङ्गबलना यो यघटितोत्तानकरवेणिकाभि'

दण्डिन

दशकुमार-चरित्र का निम्न वाक्य पढ़िए जिस में भूमि बन्धन और वर्ण-विन्यास का प्रतिविम्बन प्रत्यक्ष है —

मणिसमुदगात वर्णवितिका मुद्धत्य

—दश० च० उ० २

भवभूति

भवभूति के उत्तर-राम-चरित मे प्राकृतिक चित्रों की भरमार है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि Landscape Artist के लिए जो Principles of Perspective विशेष महत्व रखते हैं उनके पूर्ण प्रतिविम्ब यहा पर दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए श्रृगवर पुर के निकट इङ्गुदी—पादप का वर्णन, भागीरथी गगा का वर्णन, चित्रकूट के मार्ग पर स्थित श्याम वट-वृक्ष का वर्णन, प्रश्रवण-पर्वत का भव्य वर्णन पञ्चवटी की पृष्ठ-भूमि पर शूर्पणखा के चित्र का विलास-वर्णन, पम्पा-सरोवर के वर्णन—ये सब वर्णन एक-मात्र काव्य-मय नही हैं, ये पूरे के पूरे चित्र-मय हैं।

माघ

माघ को तो कालिदास और भवभूति से भी बढ़कर पण्डित-मण्डली ने जो निम्न युक्ति से परिकल्पित किया है–

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम।
दण्डिन पदलालित्य माघे सन्ति त्रयो गुणा ॥

यह ठीक है या नही ? परन्तु इन के विरचित शिशुपाल वध के ततीय सर्ग के ३६वें श्लोक को पढ़िए जिस मे भूमिबन्धन के लिए कितना सुन्दर मार्मिक विधान है। अनिश्लक्ष्णता अर्थात् बहुत चमकता चिकना एव आलस्य कम के लिए भूमि-बन्धन समीचीन नही–

यस्यामतिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः ।
चक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाः सजीवचित्रा इव रत्नभित्तीः ॥

हर्षदेव—हर्षवर्धन

इन के तीनों नाटक-नाटिकाओं—नागानन्द, रत्नावली, प्रियदर्शिका से सभी परिचित ही हैं। बाण के 'अलाबु' कालिदास के वर्णिका-करण्डक का हम उल्लेख कर ही चुके है। हर्षदेव की रत्नावली को पढ़िए —

"गृहीतिसमुद्गकचित्रफलवर्तिका"

इस मे षड्-चित्राङ्गो मे वर्ण-पात्र, चित्र-फलक तथा चित्र-लेखनी इन तीनो पर पूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है।

राजशेखर

राजशेखर की काव्य-मीमांसा मे विवध कर उसके बाल-भारत में निबद्धासर इस सन्दर्भ म चित्र-वर्ण-रसायन पर बड़ा ही पारिभाषिक वैशिष्ट्य प्रतीत होता है। अब आइये श्रीहर्ष की ओर—

श्रीहर्ष का समय ११वी तथा १२वीं शताब्दी

उत्तर-मध्यकालीन-चित्रकला का साहित्यिक-निबन्धन इतिहास उद्दाम तथा तीव्र गति से उल्लसित प्रस्तुत करता है। चित्र-कला मे वर्ण-विन्यास को अक्षर-विन्यास मे जो परावर्तन प्रारम्भ हुआ, वह श्रीहर्ष के नैषधीय-चरित महाकाव्य के निम्नलिखित सदर्भों म प्राप्त होता है। यहा पर 'ॐ' इस शब्द के दोनो दल बिन्दु तथा अर्धचन्द्र—चारो के साथ दमयन्ती के दोनो भौंहो (दोनो दल) तिलक (बिन्दु), अर्द्ध-चन्द्र वीणाकोण से तुलना की गई है। इसी प्रकार इस निम्नोद्धृत श्लोक मे विसर्ग की कितनी सुन्दर समीक्षा एव तुलना है —

शृङ्गवद्बालवत्सस्य बालिकाकुचयुग्मवत्
नेत्रवत्कृष्णसर्पस्य स विसर्ग इति स्मृतः ।

अब हम चित्र-शास्त्रीय-सिद्धान्तो तथा चित्र प्रक्रिया की पृष्ठ-भूमि में नैषध के नाना उद्धरणो को पेश करते हैं, जिनमे चित्र प्रकार चित्र-प्रक्रिया, विशेष कर मान—प्रमाण, अण्डक-कर्म, चित्र वर्ण, वर्ण-विन्यास एव शरीरावयव—मुख, नासा, चिबुक कर्ण ग्रीवा, केश, नितम्ब, गुल्फ, एड़ी तथा अगुलिया—

सभी पर वडे ही प्रौढ वर्णन प्राप्त होने हैं। श्री हर्ष के इन निदर्शनों में सबसे बड़ी विशेषता वस्त्र-चित्रकारी, मुद्रा-भंगिमा विशेष सूक्ष्म हैं।

चित्र प्रकार

कुड्य-चित्र—'ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौर पुरि लेखितानि।
निरीक्ष्य निर्युदिवस निशा च तत्स्वप्नसभोगकलाविलासं ॥१० ३५॥
द्वार चित्र—पुरि पथि द्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृता युत्सववाञ्छयव।
नभोऽपि किर्मीरमकारि तेषा महीभुजामाभरणप्रभाभि ॥१० ३१॥
प्रेमी-प्रेमिका-चित्र—प्रिय प्रिया च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीला गृहभित्तिकावपि।
इति स्म सा कारुवरेण लेखित नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते। ।१ ३८॥

चित्रमे योज्यायोज्य

'भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससकथा ।
पदमनन्दसुनारिरमुतामन्दसाहमहस मनोभुव ' ॥१८ २०॥

वर्तना

सूत्रपात लेखा—गौरीव पत्या सुभगा कदाचित्कर्तेयमप्यर्धतनूसमस्याम ।
इतीव मध्ये विदध विधाता रोमावलीमचकसूत्रमस्या ॥७ ८३॥
अपागमालिख्य तदीयमुच्चकै रनीपि रेखाजनिताञ्जनेन या।
मापाति सूत्र तदिव द्वितीयया वय श्रिया वर्धयितु विलोचने ॥१५ ३४॥
हस्त-लेखा—पुराकनि र्माणमिमा विधातुमभूद्विधातु खलु हस्तलेख ।
येयमवद्भावि पुरी ध्रमष्टि सास्य यशस्तज्जयज प्रदातुम' ॥७ १५॥
अस्यैव सगम्य भवरक रस्य सरोजसृष्टिमम हस्तलेख ।
इत्याह धात्रा हरिणक्षणाया कि हस्तलेखीकतया तयास्याम् ॥७ ७२॥
इस्तलेखमसजत् खलु जन्मस्थानरेणुकमसौ भवदथम् ।
राम राममघरीकततत्तल्लेखक प्रथममव विधाता ॥२१ ६६॥

वर्ण-विन्यास

चार मूल रग— विरहपाण्डिम राग तमोमषीशितम तन्निजपीतिम वर्णकै
दश दिश खलु तद्दृगकल्पयन्लिपिकरी नलरुपकचित्रिता ॥४ १५॥

'पीतावदातारूणनीलभासा देहोपदेहात्किरणांमणीनाम् ।
गोरोचनाचन्दनकुकुमैणनाभीविलेपा पुनरुक्तयन्तीम् ॥१० ९७॥
विभिन्न मिश्र वर्ण—'यस्य मन्दिर स राज्यमादरादाराध मदन प्रियाबस ।
मेंक्वणमणिकाटिकुट्टिम हमभूमिमति सौधभूधरे ॥८ ३॥
वर्ण वि यास—'स्थितिशालिसमस्तवर्णता न कथ चित्रमयी विभर्तु मा ।
स्वरभेदमुपतु या कथ कलितानल्पमुखारवा न वा ॥२ ६८॥

शरीरावयवज्ञान

कर्णोद्धृता किं हरिणीभिरासीदस्या सकाशान्नयनद्वयश्री ।
भूयोगुणाय सकला बलाद्यत्ताभ्योऽनयाऽलभ्यत विभ्यतीभ्य ॥
नासीदमीया तिलपुष्पतूण जगत्त्रयव्यस्तशरत्रयस्य ।
श्वासानिलामोदभरानुमेया दधद्विबाणी कुसुमायुधस्य ॥
बन्धक्व धभवदनदस्य मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहाना ।
रागश्रिया शैशवयौवनीया स्वमाह सध्यामधरोष्ठलेखा ॥
विलोक्तितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेय सुषमासमाप्तौ ।
धत्युदभवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागुलिय न्त्रयव ॥
न्हाविश्रवण पथातिवक्र शास्त्रीयनिष्प दमुधाप्रवाह ।
सोऽस्या श्रव पत्रयुगे प्रणालीरेखेव धावत्यभिकर्णकूपम ॥
ग्रीवादभुतवावट्टशामिसापि प्रसाधिता माणवकेन सेयम् ।
मानिग्यलामप्यवलम्बमाना सुरूपताभागाखिलाध्वकाया ॥
कविलगानाप्रियवादसत्यायस्या विधाता व्यधिताधिकण्ठम् ।
रेखात्रयन्यासमिषादमीषा वासाय सोऽय विबभाज सीमा ।
रज्यन्नखस्यांगुलिपञ्चकस्य मिषादमी हैठलपद्मतूण ॥
हैमैकपुरूयास्ति विशुद्धपदव प्रियाकर पञ्चशरी स्मरस्य ।
चक्रण विश्वे युधि मत्स्यकेतु पितुर्जित वीक्ष्य सुदर्शनेन ।
बगज्जिगीपत्यमुना नितम्बमयेन किं दुलभदशनेन ॥
घृस्चिन्तलेखा च तिलोत्तमास्या नासा च रम्भा च यदूरुसृष्टि' ।
दृष्टा तत प्रत्ययतीयमेकानेनकाप्सर प्रेक्षणकौतुकानि ॥
यानेन तन्व्या जितदन्तिनाथौ पादानराजौ परिगृद्धपार्ष्णी ।
जाने न शुश्रूषयितु स्वमिच्छू नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज ॥

एष्यन्ति यावद्गणनाहितानपा स्मरार्ता शरणं प्रवेष्टुम् ।
इमे पदार्ते विधिनापि सृष्टास्तावत्य एवाङ्गुलयो न लेखा ॥
प्रियानखीभूतवतो मुदैव व्यधाद्विधिः सावुदा त्वमिन्दो ।
एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्य कथमयया स्यात् ॥

तल-चित्र (Mosaic Floor-painting)

कुत्रचित कनकनिर्मिताखिल क्वापि यो विमलरत्नज किल ।
कुत्रचिद्रचितचित्रशालिक क्वापि चारिस्थरविधै व्रजालिक ॥'—१८ ११

पत्र-भग चित्रण

स्तनद्वये तन्वि पर तथैव पृगौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य ।
मनल्पवग्घ्यविवर्धिनीना वलना समाप्तिम् ॥ '—३ ११८

हस्त-लेख

दलोदरे काञ्चनकेतकस्य क्षणामसीभावुकवर्णलेखम ।
तस्यपैव यत स्वमनङ्गलेख लिलेख भैमीनखलेखिनीभि ॥३ ६३

चित्र-मुद्रा

क्रमोद्गता पीवरताधिजघ वक्षाधिरूढ विदुषी किमस्या ।
मपि भ्रमीमगिभिरावताग वासा लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥—७ ६७

चित्रकार

'चित्रतत्तदनुकायविभ्रमाध्याम्यनतेकविषरूपरूपकम ।
वीक्ष्य य बहु घुन्विनरो जरावातको विविरकल्पि शिल्पिराट ॥—१८ १२

सोमेश्वर-सूरि—इन के यशस्तिलक-चम्पू मे न केवल चित्र शास्त्रीय सिद्धान्तो एव प्रक्रियाओ का ही पूर्ण प्रोल्लास प्राप्त होना है वरन जिस प्रकार बाण को रचनाओ से तत्कालीन चित्र कला-सेवन एक प्रकार से दैनिक चर्या थी उसी प्रकार यशस्तिलक के पन्ना मे तत्कालीन चित्र-कला के सामाजिक, वैयक्तिक एव गाहृस्थ्य सेवन पर भी पूरा प्रकाश प्राप्त होता है । इस ग्रन्थ मे चित्र-कला का एक नया विकास प्रारम्भ पाया जाता है, जिसको हम पत्रलेखन की सज्ञा से पुकार सकते हैं । पत्रलेखन मे तात्पर्य लता विच्छित्ति चित्रण हैं जो नगी नारियों पशुओ एव पक्षियो के अगो पर चित्रणीय हैं । कालिदास ने ही सबसे पहले इस

परम्परा का अपने मेघदूत में श्रीगणेश किया था, 'रेवा द्रक्ष्यसि आदि'।

परन्तु पुन इन का पुनरुत्थान 'यशस्तिलक' के सन्दर्भों से प्राप्त होता है। यहाँ पर वे कालिदास से भी आगे बढ गए हैं। उद्दाम शम्ब, स्वस्तिक ध्वजा, नन्द्यावर्त आदि लाञ्छनो से गज की भूमि को विकसित किया है यह पत्रालेखन एक प्रकार से बडा ही विरला है। आगे चल कर नायिकाओं के अंग-प्रसाधन में शृंगार मे अंगो की भूति-प्रदनार्थ नाना अंगोपांग, अंतराग प्रसाध्य हैं। निम्न लिखित उद्धरण पढिए

'उच्चनखरेखालिखितनिखिलदेहप्रसादम्'

अस्तु, इस थोड़े से साहित्य-निबन्धनीय एव ऐतिहासिक सिंहावलोकन के उपरान्त अब हम चित्रकला के अन्तिम स्तम्भ पर आते हैं।

ग्रन्थ चित्रण—चित्रकला को हम तीन धाराओं मे बहती हुई पाते हैं। पहली हुई पुरातत्वीय, दूसरी हुई साहित्यिक। अब इस तीसरी धारा को हम ग्रन्थ-चित्रण के रूप मे विभाजित कर सकते हैं। समरागण-सूत्रधार का यह निम्न-प्रवचन इस तीसरी धारा की ओर भी सकेत करता है।

"चित्र हि सर्वशिल्पना मुख लोकस्य च प्रियम्"

यह धारा विशेषकर गुजरात मे पनपी और इसके निदर्शन हस्त-लिखित जैन-ग्रन्थ ही मुख्य उदाहरण हैं। जैन-चित्र-कल्पद्रुम से ही नही, वरन अन्य अनेक जैन हस्त-लिखित-चित्रित-ग्रन्थो से भी यही प्रमाण प्रस्तुत होता है। हीरानन्द शास्त्री ने अपने Monograph (Indian Pictorial Art as developed in Book Illustrutions) में भी यही प्रमाण पूर्ण रूप से परिपुष्ट किया है।

द्वितीय खण्ड

अनुवाद

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

१ वेदी

२ पीठ

विषयानुक्रमणी—शेषांश

वेदी-लक्षण

वेदिया चार है जो पुरा ब्रह्मा के द्वारा कही गयी है उन्ही का अब हम नाम सस्थान और मान से वर्णन करते है ।।१।।

पहली चतुरश्रा दूसरी सर्वभद्रा तीसरी श्रीधरी और चौथी पद्मिनी नाम से स्मृत की गई है ।।२।।

यज्ञ के अवसर पर विवाह मे और देवताओ की स्थापनाओ मे नीराजना मे तथा नित्य वह्नि होम मे राजा के अभिषेक मे और नरध्वज के निवेशन मे राजा के योग्य ये बतायी गयी है और चारो वर्णों के लिये भी यथाक्रम समझनी चाहिये ।। ४।।

चतुरश्रा वेदी चारो तरफ से नौ हाथ होती है । आठ हस्त के प्रमाण से सर्वभद्रा बनायी गई है । श्रीधरी वेदी का मान सात हाथ समझना चाहिए और शास्त्रज्ञो ने नलिनी नाम की वेदी का छह हाथ का विधान किया है ।।५ ।।

चतुरश्रा वेदी को चारो ओर चौकोर बनाना चाहिए और सर्वभद्रा को चारो दिशाओ मे भद्रो से सुशोभित करना चाहिए श्रीधरी को वाम कोनो मे युक्त समझना चाहिये और नलिनी यथानाम पद्म के सस्थान को धारण करने वाली समझना चाहिये । अपने अपने विस्तार के तीन भागो मे उन सब की ऊचाई करनी चाहिये तथा मन्त्र पुरस्सर इष्टकाओ के द्वारा उन का चयन करना चाहिए ।।७-१ ।।

यज्ञ के अवसर पर चतुरश्रा विवाह मे श्रीधरी देवता के स्थापन मे सर्वभद्रा वेदी का निवेश करना चाहिए । अग्नि कार्य-सहित नीराजन मे तथा राज्याभिषेक मे पद्मावती वेदी कही गई है और नरध्वज-उत्थान मे भी इसी का विधान है ।।११।।

चतुर्मुखी वेदी का विशेष यह है कि चारो दिशाओ मे सोपानो से चतुर्मुखी बनाना चाहिए । उस प्रतीहारो से युक्त और अर्धचन्द्रो से उपशोभित चार खम्भो से युक्त चार घडो से शोभित तथा सुवर्ण, रजत ताम्र अथवा मृत्तिका से बने हुए कलशो से सुशोभित करना चाहिए । और वे घडे प्रत्येक कोन

पर सुदर वारगो के चित्रो से भूषित विन्यस्त करना चाहिए। वेदियो के स्तम्भो का प्रमाण छाद्य (छप्पर) के अनुकूल करना चाहिए ॥१२-१४॥

एवं, दो अथवा तीन आमलसारक छाद्य के द्वारा स्तम्भ के मूल भागो को गुड, शहद अथवा घृत से चिकना कर अथवा श्रेष्ठ अन्न से चिकना कर उनका यथास्थान विन्यास करे। पुन देवताओ की पूजा कर के ब्राह्मणो से स्वस्ति वाचन करवाना चाहिये ॥१५-१६॥

वेदिका का लक्षण जो चार प्रकार का यहा बताया गया है वह सारा का सारा जिस स्थपति के मन मे वर्तमान होता है, वह ससार मे पूजित होता है और राजा की सभा मे स्थपति शोभा को प्राप्त करता है और उसका शुभ्र यश फैलता है ॥१७॥

पीठ-मान

अब देवो के और मनुष्यो के पीठ का प्रमाण कहा जाता है । एक भाग की ऊचाई वाला पीठ कनिष्ठ (छोटा) पीठ डढ भाग वाला मध्यम और दो भाग की ऊचाई वाला उत्तम—इस प्रकार पीठ की ऊचाई कही गई है ॥१–२½॥

महेश्वर, विष्णु और ब्रह्मा का पीठ उत्तम होना चाहिए और अन्य देवो का पीठ बुद्धिमान के द्वारा वैसा नही करना चाहिए और ईश्वर का (राजा का) पीठ इच्छानुसार विचक्षण स्थपतियो के द्वारा बनाना चाहिये ॥२½-३॥

जिस पीठ पर ब्रह्मा और विष्णु का निवेश करना चाहिए वहा सब जगह ईश्वर का निवेश किया जा सकता है । ऐसा करने पर दोष नही और देवो की पीठ की ऊचाई एक भाग मे प्रकल्पित है । जिस का जिस विभाग से वास्तु मान विहित है उसका उसी भाग से पीठ की ऊचाई भी करनी चाहिए । मनुष्यो के घरो के पीठ देव पीठो के तुल्य बराबर) करने चाहिए अथवा देवो के पीठ अधिक करने पर देवता लोग वद्धि करते हैं ॥ ७½॥

पुर के मध्य भाग मे ब्रह्मा जी का उत्तम मन्दिर निर्माण करना चाहिए उसको चतुर्मुख बनाना चाहिए, जिस से वह सब पुर को देख सके । सब वेश्मो से तथा राज प्रासाद से भी उसे बड़ा बनाना चाहिए ॥७½ ८॥

और देव–मन्दिरो से राज प्रासाद अधिक भी प्रशस्त कहा गया है क्योंकि लोकपालो मे श्रेष्ठतम पाचवा लोकपाल राजा कहा गया है ॥९॥

इस प्रकार से देवो के इन सपूर्ण पीठो का वर्णन किया गया । अब ब्राह्मणादि के क्रम से चारो वर्णों के पीठो का वर्णन करता हू ॥१०॥

३६ अगुल की ऊचाई का पीठ ब्राह्मण के लिये प्रशस्त कहा गया है और अन्य वर्णो के पीठ चार चार अगुल से छोटे हो ॥११॥

चारो वर्णों के पीठो और गृहो का विप्र भाग करता है और तीन वर्णों का क्षत्रिय दो का वैश्य और शूद्र केवल अपने पीठ का भाग करता है ॥१२॥

इस प्रकार पीठो का विभाग गृह–स्वामी का कल्याण चाहता हुआ और राजा की समृद्धि के लिए स्थपति परिकल्पित करे ॥१३॥

प्रमाण के अनुसार स्थापित किये गये देव पूजा के योग्य होते है ॥१३½॥

ब्रह्मा विष्णु शकर तथा अन्य देवो के पीठो का जो नियत प्रमाण कहा गया है वह सब वर्णित किया गया । तदनन्तर विप्र आदि वर्णो का भी पीठ-प्रमाण बताया गया । इस लिए कल्याण चाहने वाले स्थपतियो के द्वारा उस सपूर्ण पीठ-मान की योजना करनी चाहिए ॥१४॥

द्वितीय पटल
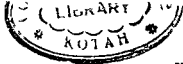
राज-निवेश

चौसठ पद पर प्रतिष्ठित पुर निवेश यथाविधान यथाङ्गापाङ्ग का विधान करने पर अर्थात यहा पर परिखाओ प्राकारो गोपुरो अट्टालका के निर्माण करन पर गलियो का विभाग तथा चारो ओर चबूतरो का विभाग कर लन पर और क्रमश अन्दर और बाहर बताए हुए देवताओ की स्थापना करन पर पूव दिशा म जन बहुल प्रदश म अथवा पूव म आग के दरवाजे के उन्नत प्रदेश पर यश श्री विजय वाले मत्र पद-अधिष्ठित यथा-वर्णक्रमायात समान चारो कोने वाले शुभ पुर क मध्य भाग स ऊपर दिशा म स्थित राजा के महल को बनाना चाहिय ॥१-४।

दुर्गों म राज महल ऊपर दिशाओ म भी अथवा जहा उचित भू-प्रदश प्राप्त हो वहा निविष्ट किया जा सकता है और वहा पर विवस्वत भूधर अथवा अयमा के किसी अन्यतम निर्दिष्ट पद निवेश विहित माना गया है ॥५॥

दो सौ तैतालीस नापो स युक्त पद म ज्यष्ठ प्रासाद कहा गया है और मध्यम प्रासाद एक सौ बासठ और अन्तिम एक सौ आठ का होता है ॥६॥

ज्यष्ठ पुर म ज्यष्ठ राज-निवेश का विधान है मध्यम म मध्यम और छोट मे छोटा है ॥७॥

यह राज माग पर आश्रित होता है और इस क वास्तु द्वार का मुख पूव की ओर होता है। चारो ओर प्राकारो एव परिखाओ स रक्षित सुन्दर कान्ति वाले अङ्कभ्रमा नियूहो अर्थात भवन विच्छित्तियो एव सुदृढ अट्टालको स युक्त इक्यासी पदो से विभक्त नृप मन्दिर का निर्माण करना चाहिए। इसी युक्ति म अन्य दिशाओ म आश्रित पदो पर निर्माण करना चाहिय इसका गोपुर-द्वार भल्लाट-पद वर्ती इष्ट माना गया है ॥८-१०।

उस पुर के द्वार के विस्तार की ऊचाई के समान कल्याणकारी महेन्द्र-द्वार महीधर शेष नाग पर निवेश्य कहा गया है। ववस्वत म पुष्पदन्त अयमा म गहक्षत और दूसरे प्रदक्षिण पदो म अपरतः इसी प्रकार म अन्य दूसरी अपनी अपनी दिशाओ मे द्वारो का निर्माण करना चाहिए। सब आभिमुख्य होन पर य सब गोपुर-द्वार प्रशस्त कहे गय है ॥११-१३॥

ने नगर द्वा । स वीस गण। ग न्द्र गन्धर्व, जयन्त और मुख्य के पदो पर पक्ष द्वा । नि निमाण करना चाहिए। आ । न उसी प्रकार स विदि म प्रदक्षिण भ्रमो का निमाण करना चाहिए ॥१ –१५॥

देवताओं के पद समूहो ग पुर के समान वास्तु पद नि विभक्त होने पर मर पद पर राजा के निवास के लिए पूर्व-मुख प्रमुख पृथ्वी—जय प्रासाद का यथावत निवेश करना चाहिए ॥१५ १६॥

श्रावत्स सर्वतोभद्र अथवा भुवनवाण इनमे से जिस किसी का राजा चाहे उस शुभ–लक्षण राज-प्रासाद का निर्माण करावे ॥१७॥

अब आइये नाना विध राज-प्रासाद निवेशो का सविस्तर वर्णन किया जाता है। शालायें एव कर्म-चारियो के अपने अपने पृथक पृथक् निवेशो के साथ राज गृह निवेश्य होता है। प्राची दिशा म आदित्य भगवान सूर्य के पद से मण्डित राज गृह होता है। सत्य म धर्माधिकरण व्यवहार निरीक्षण का न्यास विहित है और मृग मे कोष्ठागार और अम्बर मे मृग एव पक्षियो का निवास बताया गया है ॥१८–१९॥

अग्नि की दिशा म प्रारम्भ कर वायु की दिशा की ओर रसोई पूपा म सभाजनाश्रय तथा भोजन-स्थान का निवेश बताया गया है ॥२०॥

सावित्र म वाद्यशाला और सविता म वन्दि गणो का निवास बताया गया है। वितथ म चर्मो का एव उसके योग्य अस्त्रो का विधान विहित है। सोना चादी के कामो का गृहक्षत म निवेश करना चाहिए। दक्षिण दिशा म गुप्ति काष्ठागार बनाना चाहिये ॥२१–२२॥

प्रेक्षा सगीत और वास-वेश्म ग धर्व म स्थापित करने चाहिए। रथ शाला और हस्ति-शाला का निर्माण ववस्वतम करना चाहिए ॥२३॥

पश्चिमोत्तर भाग म वापी का निर्माण करना चाहिए ॥२४½॥

ग धर्व के बाहर वायु और सुग्रीव के पदो म प्राकार के वलय से आवृत अन्त पुर का स्थान बनाना चाहिए। अथच अन्त पुर के गोपुर द्वार का निवेश जय पर तथा उसका मुख उत्तराभिमुखीन बनाना चाहिए। भङ्ग में कुमारी-भवन तथा क्रीडा एव दोला गृहो का भी निवेश करना चाहिये। स्थपति के द्वारा अपराङमुख वाले ऐसे प्रासाद का भी निर्माण करना चाहिए। मृग मे नृप का अन्तपुर और पित्र्य मे अवस्कर अथच यथास्थान राजाओ की स्त्रियो का उपस्थान भी इन्द्र-पद मे कहा गया है ॥२४½ २७ ॥

सुग्रीव पद मे आश्रित अरिष्टागार कल्याणकारी होता है एव उसका

निवेश जयन्त तथा मग्रीव पदा म विशेष विहित है ॥ २८ ॥

मनोहर अशोक-बन के स्थान के लिए एव धारा गह एव लता मण्डपो से युक्त लता गह भी यही पर होने चाहिए। सुन्दर लकड़ी के पवत वापियां पुष्प वीथियां भी होनी चाहिए। पष्पादन्त में पुष्प-वेश्म तथा अन्तपुर क कमादिक निवेश करने चाहिए ॥२९--३०॥

वरुण के पद मे वापी और पान गृह बनाने चाहिए। असर म काष्ठागार शाप मे आयुध गह विहित बताय गय है। ॥३१॥

रौद्र नामक सुन्दर पद मे भाण्डागार का निमाण करना चाहिए और पाप यक्ष्मा के पद पर उलखल शिलायन्त्र-भवन अथात आखनी और चक्की क स्थान बनाने चाहिए ॥३२॥

राजयक्ष्मा मे लकडी के काम वाला घर कल्याणकारी होता है। वायु दिशा मे रोग पद पर औषधियो का स्थान होना चाहिए। विद्वानो के द्वारा नागा का स्थान नाग के पद पर नाम कहा गया है और मुख्य म व्यायाम नाटय और चित्रा की शालाओ का विधान बताया गया है ॥३३-३४॥

भल्लाट-नामक पद मे गौवा का स्थान तथा भोग गह होने चाहिए। सौम्य के उत्तर-प्रदेश म पुरोहित का स्थान कहा गया है। और च यहीं पर राजा का अभिषेचन-स्थान तथा दान अध्ययन और शान्ति क स्थान भी विहित बताय गय है। भवर अथात नप नाग के पद पर चामर तथा छत्र के घर एव मन्त्र वश्म भी प्रतिष्ठाप्य है और यहीं पर बैठ कर राजा को अपने अधिकारियों के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए। ३५-३७॥

उत्तर भाग म आश्रित घोडों की वाजिशाला होती है और वह महीधर क पद पर ही दक्षिणाभिमुख यथोचित रूप म राज-प्रासाद के अनुरूप सवत्र वाजिशाला बनानी चाहिए। राजा अपने प्रासाद में जब प्रवेश करता है तो दक्षिण म वाजिशाला पड़नी चाहिए और वाम भाग म गजशाला पड़नी चाहिए। चरक नामक पद म राज पुत्रों के घरों का निमाण करना चाहिए और यहां पर इन लोगों की पाठशालाओं का निवेशन भी करना चाहिए। और च नृप की माता का निवेशन अदिति के स्थान म करना चाहिए। यहीं पर पवन स्थान पर पालकी और शय्या के घर अलग अलग कहे हैं ॥ ३८-४१॥

राजाओ के हाथियों की शालाओ का निर्माण भी पद पर उचित कहा गया है। यहीं पर गजों के अभिषेचनक स्थान विहित है ॥४१३-४२॥

आपवत्स के पद पर हस मोर, गन्य पक्षियों म चित आर जहा पर

कमल बन खिले हुए है, एसे स्वच्छ सलिल वाले तालाबो का निर्माण करना चाहिए ॥४२½–४३½॥

चाचा, मामा आदि के घर दितिपद मे होना चाहिए ।

राजा के अन्य सामन्त आदि ऊचे अधिकारियो के भी घर यही पर विहित हैं ॥४३½–४४½॥

ऐशानी दिशा मे अनल स्थान पर ऊचे ऊचे खम्भो एव उत्तुङ्ग वेदिकाओ से युक्त अच्छी अच्छी मणियो से बने हुए सुन्दर देव कुल का निर्माण करना चाहिये ॥४४½–४५½॥

पर्जन्य के पद पर ज्योतिषी का घर कहा गया है ॥४५॥

सेनापति को विजय देने वाले घर का निर्माण जयाभिध पद पर करना चाहिए तथा इस भवन को अर्यमा के पद मे प्राकार-समाश्रित द्वार प्रशस्त कहा गया है। और यही पर पूर्वदक्षिणाभिमुखीन शास्त्र कर्मान्त शास्त्र-भवन भी उचित है ॥४६–४७½॥

राज-प्रासाद-निवेश में इन्द्र-ध्वज-युत ब्रह्मा का स्थान किसी भी निवेश्य के लिये वर्जित बताया गया है। इसी स्थान पर केवल अशुभ वेश्मो का विधान है और यही पर असुखावह गवाक्ष एव स्तम्भा-शोभिनी शालाओ का भी विधान विहित है ॥४७½–४८॥

राज प्रासाद की रक्षा के लिये यथादिक प्रभवा सभा का निवेश बताया गया है। साथ ही साथ राज प्रासादो के सम्मुख गजशालायें अनिवार्य है अथवा पृष्ठ भाग में भी विहित है ॥४९–५०½॥

इस प्रकार के शास्त्रानुकूल विधान के अनुसार देव प्रसाद तुल्य राज भवन का जो राजा अनुष्ठान करता है वह सप्तद्वीप सप्तसागर-परीता मही का प्रशासन करता है तथा अपने पराक्रम से सभी शत्रुओ पर विजय प्राप्त करता है ॥५१॥

राज-गृह

१०८ कर अर्थात हस्त वाला ज्येष्ठ ६० हस्त वाला मध्यम ७० हस्त वाला निकृष्ट राज-वेश्म बताया गया है अत महान विभूति एव सम्पदा को चाहने वाला इमस हीन मान मे राज-वेश्म का निर्माण न करावे ॥१–२१॥

क्षेत्र के चौकार बना लेने पर, दश भागो मे विभाजित कर आदि कोण म आश्रित दीवाल आध भाग स कही गयी है ॥२३–३१॥

चार खम्भा स युक्त मध्य मे चार भाग वाले अलिन्द का निर्माण करे और बाहर का अलिन्द बारह खम्भा से आवृत निर्माण करे। तदनन्तर बीस श्रेष्ठ खभा से युक्त दूसरा अलिन्द होता है और तीसरा भी २८ खभा वाला होता है और ३६ खभो से चौथा अलिन्द विहित है। इस प्रकार से पृथ्वी-जय नामक राज वेश्म मे १०० खभे विद्वानो के द्वारा बताये गये हैं। १—१॥

इस के चार दरवाजे होते हैं जो कि पञ्चभाग द्वार विहित है। उसके चारो निर्गम (निकास) प्रत्येक दिशा में होते हैं वे सब बराबर होते है। और इसी प्रकार स चारो दिशाओ म भद्राओ का निवेशन विहित है॥ १–७॥

बीच की दीवाल के आध म तीनो भद्रो म दीवाल होती है प्रत्येक भद्र म २८ २८ खम्भ कहे गय है ॥८॥

मुख भद्र वदिकाओ और मत्तवारणो मे युक्त कहा गया है। क्षत्र भाग का उदय आदि भूमि के फलक तक कहा गया है ॥९॥

आदि भूमि की ऊचाई के आधे से इस का पाठ कल्पित होना चाहिए। नव भागा से ऊचाई करके एक भाग स कुम्भिका बनानी चाहिए ॥१०॥

चारो भागा मे आठ अश स युक्त स्तम्भ निर्माण करना चाहिए पाद युक्त एक भाग से उत्कालक बनाना चाहिए ॥११॥

पाद-रहित भाग से हीर ग्रहण करना चाहिए। खम्भ स युक्त सपाद एक भाग का पट्ट निर्मेय है। पट्ट के आध मे जयन्तियो का निर्माण करना अभिप्रेत है। अन्य भूमियो पर यही क्रम है परन्तु निर्मित भाग की ऊचाई म अ श आ

दिया जाता है अर्थात तलभूमि में ऊपर की भूमियों का ह्रास आवश्यक है। पञ्च भाग का प्रमाण वाला नवा तल सच्छाद्य होता है। वेदिका का नीचे का छाद्य साढे तीन भाग का प्रमाण वाला और वह कण्ठ से युक्त बनाना चाहिए जिससे वेदिका ढक जाए और च उस का कण्ठ बीच में एक भाग से बनाना चाहिए ॥१२-१५॥

वेदिका का विस्तार अर्धसप्तम भागों से करना चाहिए और वेदिका के ऊपर घण्टा साढे चौदह भाग से पाद सहित दो भागों से कण्ठ, पाच से पट्ट चार से दूसरा और फिर तीन से तीसरा शोभा के अनुसार इच्छानुसार वेश्म-शीर्ष देना चाहिए। छत्र-भाग के बराबर शूलिका का कलश बनाना चाहिए ॥१६-१८॥

भूमि की ऊचाई के आधे से अन्तरावकाश में तल होना चाहिए और उसका सुशोभित पीठ जैसा अच्छा लगे वैसा बनाना चाहिए। इसकी खुर-वरण्डिका ढाई भाग से जघा चार भाग से उसके बाद छाद्य प्रवृत्त करे ॥१९-२०॥

एक पाद कम दो भागों से छाद्य पिण्ड बताया गया है और इसके ऊपर हस नाम का निर्गम चार हाथ वाला बनाया गया है ॥२१॥

उसके बाद दूसरा छाद्य एक पाद कम एक भाग से प्रासाद की जघा चार भागों से प्रकल्पित करे ॥२२॥

चौथी भूमिका के सिर पर फिर मुण्डा का निवेश करे और शेष भूमिकाए क्षण क्षण प्रवेश से बनानी चाहिये। पूर्वोक्त प्रकार से वर्णित क्रम से घण्टा सहित और कलशों से युक्त वेदिका होनी चाहिए और रेखाओं की शुद्धि से सब मुण्ड ठीक तरह से बनाना चाहिए ॥२ -२४॥

ऊचाई के आधे के तीन भाग करके और फिर तीसरे भाग के दश भाग करें—वामन आतपत्र, कुबेर भ्रमरावती हसपृष्ठ महाभागी नारद शम्बूक जय और दनावा अनन्त नरपति मुण्ड की रेखाओं की प्रसिद्धि के लिए इन उदयों का निर्माण करे ॥२५-२७½ ॥

इस प्रकार आवेदिका जाल और मत्तवारणों से शोभित वितर्दिकाओं और निर्यूहों से युक्त चन्द्रशाला से विभूषित कर्णाढ्य और बहुचित्र उस पृथ्वी जय नाम का प्रासाद निर्माण करे ॥२७½-२८॥

जो बड़े बड़े प्रासाद कह गये है वे बराबर ऊचाई वाले बनाने चाहिये। अथवा कोण से ऊचाई के आधे से छोटे हों यह क्रम है ॥२९॥

आगे भाग से ऊचाई क्षेत्र विस्तार युक्त दूसरा प्रासाद कहा गया है। इसका नाम विभूषण (क्षोणी विभूषण) है ॥३०॥

जिन में बहुत से निकर हों उन में आगन दिया जाता है। पहिली

रेखा अथवा दूसरी रेखा मे या फिर तीसरी रेखा म सम्चरण बनाय गय है। दश भाग वाले क्षेत्र मे इस तरह से भूमि का उदय करना चाहिए। कम और अधिक विभक्त क्षेत्र होने पर यथोचित करना चाहिए ॥३१—३३१॥

अब क्रम प्राप्त मुक्तकोण नामक प्रासाद का लक्षण कहा जाता ह ॥३२॥

क्षेत्र क चौकोर कर लने पर द्वादश भागा मे विभाजित करने पर इस के मध्य भाग को चार खम्भा से विभूषित करना चाहिए एक भाग से अलिन्द १२ खम्भो से युक्त होता ह और इसी के समान दूसरा अलिन्द भी बीस घरो से धारित कहा गया ह । तीसरा अलिन्द २८ घरा मे और चौथा अलिन्द ३६ से ८४ घरा म पाचवा कहा गया है ॥३४—३७१॥

आध भाग से दीवाल बनवाव, डेढ भाग का छोडकर फिर तीन भाग करे। उस से प्राग्रीव का दैर्घ्य और विस्तार बनावे। इन के विस्तार और निगम एक भाग म भद्र का निमाण करे। उसम एक भाग छोड कर इस का दूसरा भद्र होना है। भाग निगम और विस्तार का सभी दिशाओ में यही क्रम है ॥३७१ ३९॥

५४ खम्भा से युक्त एक एक भद्र युक्त होता है और इस क मध्य म १४४ खम्भ विहित है अथवा २१६ होना मिला कर इस प्रकार से सब घरो की सख्या ३ ० (१४४+२१ =३६०) हुई। यहा पर शष निर्माण पृथ्वी जय क समान ही इष्ट होता ह ॥४०—४२ ॥

सम्पूर्ण निकायो मे तीसरी भूमिका क ऊपर आगनो का निमाण करना चाहिए। यह विशष यहा पर फिर बता दिया गया ह ॥४२१—४३१॥

इसी प्रकार सवतोभद्र मनक तथा नन्दभन्न मनक राज वेश्मा म यही विधान करना चाहिए। और यही मण्डपो की प्रसिद्धि क लिए क्रम ह ॥४३१—४४१॥

श्रीवत्स क भी मध्य म मुक्तकोण क समान स्तम्भ आदि प्रकल्पन करें। डेढ भाग को छोड कर तीन भागो म विस्तृत एक भाग से निकला हुआ इसका प्राग्रीव होना है और इस का भी मुक्तकोण क समान ही मध्य भद्र का विधान है। यह विधि सम्पूर्ण दिशाओ म है। शष पूर्ववत है। हर एक भद्र मे ३० दढ शुभ खम्भ होते है सब घरो की सख्या १२० होता है और इसी प्रकार से सब स्तम्भों की सख्या २६४ होता है ॥४४१—४८॥

सर्वतोभद्र नामक वेश्म का अब लक्षण कहते है। चाकोर क्षेत्र को १४ भागा मे विभाजित करने पर चार खभो स विभूषित और इसका चतुष्क एक भाग वाला कहा गया है और द्वादश खभो स युक्त प्रथम अलिन्द बीस स दूसरा

२८ स्तम्भा स तीसरा ३६ से चौथा ४४ मे पाचवा, ५२ म छठा प्रलिन्द विहित है। सब ओर से सुदृढ और घन आधे भाग से दीवाल कही गयी है ॥४६—५३॥

डेढ भाग को छोड कर तीन भागो से विस्तृत करण का प्राग्ग्रीवक विहित है और एक भाग से निगम ॥ ५४ ॥

भाग निगम विस्तत इसका भी भद्र करना चाहिए। दो भागो स निकला हुआ मध्य मे भद्र बनाना चाहिए। इसका भी बीच मे तीन भागो से विस्तृत भद्र होना चाहिए। एक भाग से निगम अन्तर भाग स निगत कहा गया है। भाग-विस्तार से युक्त दूसरा भद्र प्रकल्पित करना चाहिए। भद्रा के प्रकल्पन मे यह विधान सब दिशाओ मे बताया गया है ॥५५-५७॥

इस राज-प्रासाद के मध्य भाग मे स्तम्भो की सख्या १९६ होनी चाहिए और इन सभी भद्रो मे १६० खम्भ होवें इस प्रकार सब स्तम्भो की सख्या ३५६ होती है। परन्तु इसकी जघा तीन भूमिकाओ वाली बतायी गई है ॥५८-६०½॥

शत्रु-मदन नामक राज वश्म का अब लक्षण कहते हैं। पृथवी जय के समान मध्य मे इसकी दीवाल उसी प्रकार होनी चाहिए। डेढ भाग को छोड कर एक भाग से आयत और विस्तत और उस के बीच मे तीन भागो स विस्तृत भद्र बनाव और इसी प्रकार तीन भागो से निकला हुआ भद्र बनाव। दोनो ओर का भद्र आयति और विस्तार मे तीन भागो से विस्तार और एक भाग स निगम विहित है। वहा पर भी मध्य भद्र एक भाग से आयत और विस्तत यही क्रम इस की सिद्धि के लिए सभी दिशाओ मे करनी चाहिए ॥६०½—६४॥

इसकी ऊपर की भूमिया पथवी जय के समान ही करनी चाहिये और प्रति भद्र ४४ स्तम्भो स युक्त कहा गया है ॥६५॥

इसके मध्य म सब सुदृढ और शुभ खभ बनाय जाय। इस तरह इसके २७६ खभे होते है ॥६६॥

इन पाचो राज-भवनो का ८०० हाथो का उत्तम मान, उत्सध और विस्तार विहित है। अत कल्याण चाहने वाले के द्वारा यह मान सम्पादित किया जाना चाहिए। मध्यम एव अधम का मान पृथ्वी जय मे बता ही दिया गया है ॥६७—६८½॥

अब राजाओ के क्रीडा के लिए और पाच भवन बताये जाते है। पहला है क्षोणी-विभूषण दूसरा पथिवी तिलक तीसरा प्रताप वधन चौथा श्री-निवास और पाचवा लक्ष्मी विलास। इस प्रकार स ये पाच राज-वेश्म वर्णित किये

गये है ॥६८½—७०½॥

क्षेत्र के चौकार करने पर दश भागो मे विभाजित कर मध्य मे चार खम्भा वाला चतुष्क बनाना चाहिए। बाहर का अलिन्द एक भाग और अन्त मे अश-श्रय से आयत तीन भागो से विस्तृत कर्ण-प्रासादो का निर्माण करना चाहिए। उनके मध्य मे षड दारुक होना चाहिए। आधे भाग के प्रमाण से युक्त दीवाल और उसका चतुष्क बहिर्भाग-निष्क्रान्त और भद्र मे एक भाग मे विस्तृत तीन प्राग्रीवो से युक्त और एक भाग के अलिन्द से वेष्टित और आधे भाग की भित्ति से वेष्टित होना है। इस प्रकार यह मनोहारी अवनि शेखर (श्रोणी विभूषण) राज प्रासाद होता है। ७०½–७४॥

क्षेत्र के चौकार कर लेने पर १२ भागो मे विभाजित कर मध्य मे एक भाग से चतुष्क और दो भागो से बाहर के दो अलिन्द कर्णों मे नवकोष्ठक-प्रासादो का सन्निवेश करे और उनके अंदर षण्दारुक का सन्निवेश भी अनिवार्य है। तब बाहर सब तरफ आधे भाग से दीवाल बनानी चाहिए। भद्र मे एक भाग से आयत चारो दिशाओ मे भाग निष्क्रान्त होना चाहिए। और इस का चतुष्क एक भाग वाले अलिन्द से वेष्टित कहा गया है और इसकी तीन भद्रायें भाग विस्तार और निर्गम वाली बनाना चाहिए और वे आधे भाग की भित्ति से वेष्टित हो। ऐसा विधान है—कर्ण कर्ण मे विस्तीर्ण भाग निर्गत २ भद्र चाहिये। इस प्रकार का राज-प्रासाद भुवन-तिलक नाम से सकीर्तित किया गया है॥७५—८०½॥

क्षेत्र का चौकोर कर लेने पर उस को १२ भागो मे बाट लेने पर चार खम्भो वाला चतुष्क मध्य मे एक भाग से निर्मित करे और उसके बाहर वाला अलिन्द एक भाग मे और दूसरा भी एक भाग से। कर्णों मे नवकोष्ठक-प्रासादो का विनिवेश करें और उसके अन्दर षड्दारुको को लगावे। उसके बाद बाहर सब तरफ आधे भाग से दीवाल बनावे। भद्र मे एक भाग से आयत भद्र विनिष्क्रान्त चार खभो वाला चतुष्क होना है और वह एक भाग वाले दो अलिन्दो से परिवेष्टित होता है। तीन भागो मे विस्तृत एक भाग विनिर्गत बाहर का भद्र होता है। दोनो तरफ दोनो भद्र एक भाग से बराबर करने चाहिये और भद्र के चारो तरफ बाहर की आधे भाग मे भित्ति कही गई है। चारो दिशाओं मे इस प्रकार विधान कहा गया है और यह प्रासाद दिगाम्-स्तवक के नाम से प्रसिद्ध है॥८०½—८६॥

कर्ण के दो प्राग्रीव और शाला के दो प्राग्रीव जब इसके हो तो

इसका नाम कीर्ति पातक कहा गया है ॥ ८७ ॥

इसी की पीठ पर चारो तरफ आठ निमु क्त शालाओ से परिवष्टित एव शालाये एक दूसरे से सम्बद्ध कर्ण-प्रासादो से युक्त शालाजिभित कोना से युक्त प्रासादो मे सुदर भुवन-मण्डन जानना चाहिए ॥८८—८६॥

तल छद ये बताये गय जो जधा सवरण आदि और भूमि मान आदि सब पृथ्वी जय के समान होते है ॥६०॥

अब क्षोणी-भूषण वेश्म का लक्षण कहता हू ॥ ६१½ ॥

४५ हाथो म कल्पित चौकोर भूमि को आठ भागो मे विभक्त कर, चार खभो से युक्त चतुष्क बताया गया है और इसका अलिन्द पहला १२ खम्भो से और दूसरा २० और तीसरा २८ म युक्त होना है ॥६१½-६३ ॥

भित्ति के डढ भाग को छोड कर एक भाग से निगत, पाच भाग स विस्तीर्ण भद्र कहा गया है और दूसरा मध्य भद्र भी तीन भागो स विस्तत और एक भाग से निगत बनाना चाहिए। उसके आगे के भद्र एक भाग स विस्तृत और एक भाग स निगत कहे गये है। इस प्रकार स इसकी सिद्धि क लिए यह विधि सब दिशाओ मे बतायी गयी है। सारदारु से निमित एव १८ हाथ क प्रमाण से ६४ मध्य-स्तम्भो स युक्त प्रत्यक भद्र का निमाण करे। इस तरह यहा पर सब जगह खभो की सख्या १८६ होती है। इसक चार दरवाजे करने चाहिये जो यश, लक्ष्मी और कीर्ति क वधन करने वाले होते है ॥६४—६८॥

अब पृथिवी-तिलक का लक्षण कहा जाता है। ४० हाथ वाले क्षेत्र को तीन भागो मे विभक्त कर भीतर क चार खभो से भूषित एक भाग स चतुष्क और अलिन्द भी बारह खभो स युक्त एक भाग वाला होता है और दूसरा अलिन्द बीस स और इसकी भित्ति एक पाद वाली (पादिका) कर्ण म तीन भागो स निगत आयत प्रासाद (कर्ण प्रासाद) कहा गया है ॥६६-१०१॥

एक भाग निगत एव विस्तत इसके दानो भद्रो का निमाण करना चाहिए। कर्ण और प्रासाद क मध्य मे पाच भागो से विस्तत और एक भाग से निगत मध्य भद्र कहा गया है। तीन भाग से विस्तीर्ण एक भाग मे निगत मध्य मे दूसरा भद्र बताया गया है। इस प्रासाद के भीतर ३६ खभ और भद्रो पर २०८ खभे बताये गय है ॥१०२—१०४॥

अब इसके बाद श्रीनिवास का लक्षण कहता हू। इसका मध्य पाथवी-तिलक के समान परिकीर्तित किया गया है। सपाद भाग छोड कर तीन भाग से विस्तत, एक भाग से निर्गत इसका पहला भद्र होना है। उस के भी मध्य

भाग वाला दूसरा भद्र एक भाग से निर्गत एवं विस्तत, सदृढ दस खंभों से युक्त कहा गया है। सभी दिशाओं में इसी प्रकार की भद्र-कल्पना की जानी चाहिए। इकट्ठी संख्या से इसके ७६ खम्भे होते हैं॥ १०५—१०८॥

अब इसके बाद प्रताप-वर्धन का लक्षण कहा जाता है। साढे अट्ठाइस हाथों में विभक्त होने पर मध्य में चार धरा (खम्भों) से सम्पन्न और भागैकविहित चतुष्क और इसका अलिन्द १२ खंभों से युक्त एवं भागैकविहित बताया गया है। इसकी भित्ति पादिका दोनों है और इसका भद्र भाग-निर्गम-विस्तार वाला चार स्तम्भों से भूषित होता है। इसकी सिद्धि के लिए समग्र दिशाओं में यही विधि करनी चाहिए। बाहर भीतर के ३२ स्तम्भ कहे गये हैं और सभा धरा (खंभों) की गणना ८४ कही गयी है॥१०९—११३½॥

अब लक्ष्मी-विलास का ठीक तरह से लक्षण कहता हूं। प्रताप वर्धन की तरह ही इसका मध्य प्रकल्पित करें। प्रताप वर्धन के समान ही सब तरह से यह कहा गया है। परन्तु इसके भद्रों के कोनों में ही पार्श्व-भद्र करना चाहिए और दोनों पार्श्वों में भी भद्रों का सन्निवेश कहा गया है। इन भद्रों का निर्गम एक भाग का होता है—यह विधान कहा गया है। इसका भद्र १० खम्भों से और मध्य भद्र १८ धरों से विरचित बताया गया है। चारों दरवाज़े इच्छानुसार क्षणम-ध्यग और अलिन्द पर मध्य में संश्रित दूसरा दरवाज़ा बनावे ॥११३½—११७॥

अब विशेष उल्लेखनीय विधि यह है कि साढे छै भूमियों से क्षोणी-भूषण का निर्माण करें और पृथिवी तिलक-सञ्ज्ञक सात साढे आठ भूमियों से धनिवास साढे पांच भूमियों में लक्ष्मी विलास भी साढे पांच भूमियों में तथा प्रताप-वर्धन साढे चार भूमियों में विनिर्मेय है। ११८-१२०½॥

राजाओं के पृथ्वी-जय आदि निवास-भवन और क्षोणी-विभूषण आदि विलास-भवन जो राजाओं के निवास और विलास के लिए कहे गये हैं उन पृथ्वी जय आदि राज वेश्मों के दरवाज़ों का अब मान कहा जाता है॥ १२०½—१२२½॥

५६ अंगुल सहित तीन हाथ से विस्तृत द्वार का उदय अर्थात् ऊंचाई कही गयी है, उसके आधे से उसका विस्तार और उसके उदय के तीसरे भाग से खंभा का पिण्ड कहा गया है॥ १२२½-१२३॥

सपाद, सचतुष्क, सत्ताइसवां गृह भाग राज वेश्मों की पहिली भूमि कही गयी है॥ १२४॥

भूमि की ऊंचाई के नौ भाग से विभक्त करने पर उसके चार अंशों में निर्गम,

दो अंशों से छाद्यक और पाद कम से ऊंचाई विहित बतायी गयी है ॥ १२५ ॥

इसी प्रकार से भीतर की जमीन छाद्यक-उच्छ्राय निगत हर्मग्रहण-पिण्डाग्र बाहल्य करने पर वह प्रशस्त होती है। उसका अपना ही बाहल्य पादकम विस्तत कहा गया है। अंतरावलिका के समान मदला का विनिगम बताया गया है। अपर निगम से उसका पाद सहित ऊचाइ होती है और इसकी भूमि की ऊचाई के नव अंश के पाद से इसका पिण्ड इष्ट होता है। तीन भाग से कम भूमि के नौ अंशों से मदला का विस्तार कहा गया है। लुमा मूल का विस्तार स्तंभा का आधा कहा गया है। वह तीन अंश से अग्रभाग में विस्तीर्ण और आठ से मूल में विहित बतायी है ॥ १२८--१३०½ ॥

मनीषियों ने तुम्बिनी, लुम्बिनी हला, शाला कोला मनोरमा तथा आध्माता—ये सात लुमायें बताई हैं। उनमें से तुम्बिनी सीधी होती है और आध्माता वक्रगा बताई गयी है। क्रमश अन्तराल में पाँच अन्य लुमायें कही गयी हैं ॥१३०½-१३२½॥

स्तम्भ में छाद्य धरने के लिए दृढ शुभ मदला रक्खे। स्तम्भ के अभाव में फिर उसके कुड्य-पट्ट पर बुद्धिमान रक्खे। मत्त-नामक छाद्य में सात अथवा पाँच या तीन लुमायें कही गयी हैं। उनके कोनों में इनके अलावा अन्य प्राजल और सम बनानी चाहिये। छाद्य में क्रम से कहीं कहीं उनको मत्स्य आनन अलङ्करण से विभूषित बनाना चाहिए। ये विद्याधरों से युक्त और कहीं पर गजतुण्डिका-मना (सूड वाला) बनाना चाहिए ॥१३२½—१३४½॥

इस मत्तुम्भिक-स्तम्भ का उदय तीन प्रकार से विभाजित कर उस में दो भाग का अंश ले आगे चार भाग करे। वहाँ पर पादकम भाग से राजितासनक आसक्त होता है और उसके पाद उत्कालक-सहित माञ्चिभागा वदी विनिर्मित होती है ॥१३४½-१३७½॥

यहाँ पर कूटागार के तुल्य अगाध में आसन पट्टक बनाना चाहिए। वह अभीष्ट विस्तार वाला एक भाग से ऊँचा मत्तवारण होता है और अपने उदय के तीसरे भाग में ढका इसका निगम होता है ॥१३७½ १३८॥

रूपकों से और करग आदि और सुपुत्रों से भी सुशोभित इस का सुंदर पत्रों से निचित वेदिका आदि शुभ होती है और उसको लोहे की शलाकों और मालों से दृढ कर देना चाहिए ॥१३९ १४०½॥

इन निरूपित पृथ्वी-जय प्रभृति १८ राज -निवेशनों के जो स्थपति लक्षण सहित परिमाण जानता है वह राजा के सन्तोष का भाजन बनता है ॥१४१॥

राज-निवेश-उपकरण

१ सभाष्टक

२ गज शाला

३ अश्व शाला

४ नपायतन

सभाष्टक—आठ सभा-भवन

आठ प्रकार की सभायें (सभा भवन) होती हैं—नन्दा जया पूर्णा भाविता दक्षा प्रवरा और विदुरा ॥१॥

क्षेत्र को चौकोर कर सोलह भागों में विभाजित कर मध्य में चार पद हों और सीमालिन्द एक भाग वाला हो। उसी प्रकार आदि का अलिन्द और उसी प्रकार प्रतिसर नामक अलिन्द भी विहित है। और प्राग्रीव नामक तीसरा अलिन्द क्षेत्र के बाहर चारों दिशाओं में होना चाहिए ॥२–३॥

राज भवन की चारों दिशाओं में सभा भवन बनाने चाहिये। क्रमशः सब नन्दा भद्रा जया पूर्णा ये सभायें होती हैं ॥४॥

क्षेत्र को छः भागों में विभाजित करने पर कोण-भित्ति का निवेशन करे तो प्राग्रीव वाली भाविता नाम की पाँचवी सभा होती है। इन पाँचों सभाओं में ३६ खम्भों का निवेशन करे और प्राग्रीव से सम्बन्धित खम्भों को इन से अलग अलग विनिवेशित करे ॥ ५–६ ॥

दक्षा नाम वाली छठी सभा चारों तरफ से तृतीय अलिन्द से वेष्टित कही गयी है और प्रवरा नाम की सातवीं यह सभा द्वारा से युक्त परिकीर्तित की गयी है। प्राग्रीव और द्वार से युक्त आठवीं विदुरा नाम की सभा कही गयी है। इस तरह इन आठों सभाओं का लक्षण बताया गया है ॥ ७–८ ॥

इस प्रकार से आठों सभाओं का ठीक तरह से दिशा सम्बन्धित अलिन्द भेद से लक्षण बताया गया है। उसी प्रकार से द्वार और अलिन्द के संयोग के जानने पर राजाओं का स्थान योग भी सम्पादित होता है ॥ ९ ॥

गज-शाला

अब गज शालाओं का लक्षण कहता हूं ॥१॥

चौकोर क्षेत्र बना कर फिर आठ भागों से विभक्त कर मध्य में दो भागों से विस्तृत हाथी का स्थान बनाये। प्रासाद के समान ज्येष्ठ, मध्यम और अधम गजशालाओं के भागों का प्रकल्पन करे ॥२—२॥

उसके बाहर एक भाग में अलिंद और उसके भी बाहर दूसरा अलिन्द, एक भाग से भित्ति का निर्माण भी उसके अलिन्द से बाहर करना चाहिये ॥३॥

उस गजशाला के दरवाजे पर दो द्वारों का निर्माण करना चाहिये और दूसरे अलिन्द के सहारे वर्ण प्रासादिका का निर्माण करना चाहिए ॥४॥

दीवार में चारों दिशाओं में दो दो गवाक्षों का निर्माण करना चाहिए। अग्रभाग में प्राग्रीव होना चाहिए। इस शाला का नाम सुभद्रा बताया गया है ॥५॥

जब इसी शाला के सामने दो पक्ष-प्राग्रीव होते हैं तब इस शाला का नंदिनी नाम चरितार्थ होता है। यह हाथियों की वृद्धि के लिये शुभ कही गयी है ॥६॥

इसी शाला के दोनों तरफ जब दोनों प्राग्रीवों का सन्निवेश किया जाता है तो गज-शाला का यह तीसरा भेद सुभोगदा नाम से परिकीर्तित किया जाता है ॥७॥

इसी शाला के पीछे जब दूसरा प्राग्रीव निर्माण किया जाता है तो गजशाला का यह चौथा भेद हाथियों को पुष्टि देने वाली भद्रिका नाम से विख्यात होती है ॥८॥

पांचवीं गज-शाला चौकोर होती है और वह वर्धिनी नाम से कीर्तित होती है। इसके अतिरिक्त छठी गजशाला प्राग्रीव, अलिन्द नियूह से हीन बतायी गयी हैं। धान्य धन और जीवन का अपहरण करने वाली यह प्रमाथिका नाम की शाला होती है। इस लिए इसका वर्जन किया गया है और अन्य सब गज-शालाओं का सकल मनोरथ-सम्पादन के लिए निर्माण करना चाहिए ॥९—१०॥

वास्तु शास्त्र में इस प्रमाणिका नाम की जो शाला कही गई है वह जीवन, धन और धान्य के नाश का कारण होती है। इस लिए उसको न बनाए और जो श्रेष्ठ शालाएं कही गई हैं उनको जीवन और धन की वृद्धि के लिए अवश्य बनावें ॥११॥

अश्व-शाला

अब अश्व शाला का लक्षण विस्तार-पूर्वक कहता हूं। अपने घर की वास्तु अर्थात् राज प्रासाद के गन्धर्व-संज्ञक पद मे अथवा पुष्पदन्त-संज्ञक पद मे घोड़ा के रहने के लिए स्थान बनाये ॥१—२½॥

ज्येष्ठा शाला सौ अरत्नियां (हाथों) के प्रमाण की मध्यम ८० और अधम ६० की कही गई है ॥२½—३½॥

सुपरिष्कृत प्रदेश मे मांगलिक स्थान पर घोड़ों का शुभ स्थान बनाना चाहिए। यह प्रदेश ऐसा हो जिसका स्थल-प्रदेश अर्थात् मैदान काफी बड़ा हो वह स्थान गुप्त हो, सुन्दर और शुचि होना चाहिए बराबर चौकोर, और स्थिर भी विहित है ॥३½—४॥

नीचे के गुल्म अर्थात् क्षुद्र झाड़ियां और सूखे वृक्षों चैत्य और मन्दिर तथा बावी और तड़ाग से वर्जित प्रदेश मे घोड़ों के स्थान का सन्निवेश करे।

निस्संग काटों से रहित (शल्य-हीन) पूर्वाभिमुख जल-सम्पन्न प्रदेश मे ठीक तरह से देखदाख कर उसका निर्माण करे ॥५-६॥

ब्राह्मणों के द्वारा बताये गये किसी शुभ दिन स्थपतियों के साथ भूमि के विभाग को देख कर सुभग एवं शुभ वृक्षों को लाना चाहिए जिनकी लकड़ी से अश्व शाला के सम्भार प्रतिष्ठाप्य होंगे। ऐसे वृक्ष नहीं लाने चाहियें जो श्मशानों मे, देवतायतनों मे अथवा अन्य निषिद्ध स्थानों मे उत्पन्न हुए हों ॥७—८॥

गृह स्वामी के घर के समीप प्रशस्त वृक्षों को लाकर फिर प्रशस्त और अप्रशस्त भूमि की परीक्षा करे ॥९॥

श्मशानों मे, बाह्य प्रदेशों मे, ग्रामों मे और धान्य के कूटने वाले स्थलों मे और विहार-स्थानों मे घोड़ों का निवसन स्थान नहीं बनाना चाहिए ॥१०॥

गावों मे और धान्यूखलों मे अश्व-शाला के निवेशन करने से स्वामी को पीड़ायें प्राप्त होती हैं। श्मशान मे वाजि-वेश्म-निवेशन से मनुष्यों की मृत्यु कही गयी है ॥११॥

विहारों और वल्मीकों मे बनाया गया अश्व-स्थान अनर्थकारी तथा

तपस्वियों के लिए नित्य सताप-कारी और विनाश कारी होता है ॥१२॥

चैत्य मे उत्पन्न होने वाले वृक्षों के द्वारा निर्मित वाजि सदन देवोपघात का जन्म करने वाला स्त्रियों का नाश करने वाला और भर्तों का भय देने वाला होता है ॥१३॥

काटे वाले पेडो से विहित होने पर स्वामी के लिए रोग-कारक होता है। फटी हुई और उन्नत जमीन पर करने मे वह क्षयावह होती है ॥१४॥

नीची भूमि मे बनाया गया वाजि मन्दिर क्षुधा और भय का कारण कहा गया है। इस लिए उसको प्रशस्त भूमि मे घोडो की वृद्धि के लिए करना चाहिए ॥१५॥

शुभ और रमणीय मनोज्ञ और चौकोर स्थान मे बनाया गया वाजि मन्दिर सदा कल्याण कारक होता है। स्थपति वाजियो का निवसन इस प्रकार करे कि मालिक के निकलने पर उसके वाम पार्श्व मे घोडे हो। अन्त पुर-प्रदेश (रनिवास) के दक्षिण भाग पर उसका निर्माण करना चाहिए जिस से राजा के अन्तपुर मे प्रवेश करने पर दाए तरफ उनका हिनहिनाना सुनाई पडे ॥१६—१८॥

स्वामी के हित के लिए घोडो की शाला उचित करनी चाहिए और उस का मुख (दरवाजा) तोरण सहित पूर्व की ओर या उत्तर की ओर बनावे। १९॥

प्राग्रीव मे युक्त चार शालाओ वाला और खुला हुआ दस अरत्नि ऊचा और आठ अरत्नि विस्तृत नागदन्तो (खूटियो) से शोभित सामने आधी कुड्य से युक्त हो वहा पर इस प्रकार के वाजि स्थान की कल्पना करे और वहा पर घोडो के थाने बनाने चाहिए जो पूर्व मुख हो अथवा उत्तर-मुख हो। आयाम मे एक किष्कु और विस्तार मे तीन किष्कु ॥२० २२॥

उनके ऊपर के भागो को लम्बे ऊँचे और चौकोर बनाना चाहिए। उन मे आगे से ऊँची सुख सचार भूमि की प्रकल्पना करे। सूत्र के मध्य-भाग मे एक हाथ स्थान चारो तरफ मजबूत बराबर चिकने और घन फलको मे विछा दें। ॥२३—२४॥

धातकी, अर्जुन पुन्नाग कुकुम आदि वृक्षो से विनिर्मित आठ अगुल ऊँचे आधे आधे हाथ विस्तृत बिना छेद वाले दोनो पार्श्वों पर लोह से बद्ध और सघन जन्तु-रहित लकडियो से शुभ नियहो से खूब विस्तीर्ण घास अथवा भूसे का स्थान होना चाहिए। वह एकान्त मे सुसमाहित और तीन किष्कुओ मे ऊँचा होवे ॥२५—२७॥

खाने की नाद दो हाथो के प्रमाण की बनानी चाहिए। यह विस्तार और ऊँचाई मे बराबर, बिना दुर्गन्ध और सुपलिप्त होना चाहिए ॥२८॥

स्थान स्थान पर तीन खूटे बनाने चाहियें। जिन मे दो, घोडे के पाच अगो के निग्रह (पञ्चाङ्गी निग्रह) के लिए बनाये जाते है। एक पीछे बाधने के लिए सुगुप्त परिकल्पन करे। हस्ति शाला के चारो कोनो पर चार हाथ छोडकर इन सभी स्थानो मे घोडो का निवशन करे ।।२७–३१½।।

छूटे हुए इन स्थानो पर बलि, होम, स्वस्ति-वाचन तथा जप कराना चाहिए ।।३१।।

ग्रीष्म ऋतु म पथ्वी को खूब सीच देना चाहिए और वर्षा ऋतु म उस स्थल को जल और कीचड से व्याप्त नही होने देना चाहिए और शिशिर ऋतु मे वह ढका हुआ होना चाहिए जिससे यहा पर बिना किसी सकोच और सकीर्णता के घोडे बैठ सकें। उन्हें इस तरह से बाधे कि वे एक दूसरे का स्पश न कर सकें। और सभी प्रकार की बाधाओ से व अपने को वर्जित समझें ।।३२–३३।।

दक्षिण-पूव दिशा म वह्नि का स्थान प्रकल्पन करे और जल का कलश इन्द्र की दिशा (पूव) म समाश्रित कर के रक्खे ।।३४।।

ब्राह्मी दिशा मे घास अथवा भूसे का स्थान बनाना चाहिए और वायव्य दिशा मे औदवन का स्थान बनाना चाहिए ।।३५।।

निश्रणी, कुश और फलक से ढके हुवे कुवें, कुद्दाल, उद्दाल गुडक सुत्रयोग और सुर कच ग्रहणी, सीग और फश, नादी और प्रदीप ये सब सभार बाजि-शाला के उपयोगी कह गय हैं ।।३६–३७।।

सुरा-सचार-वस्तुओ के सग्रह का स्थान नैऋत्य कोण म होना चाहिए। अग्नि के उपद्रव की रक्षा के लिये और बध और छेद के उपयोगी पदार्थों जल, दीपाधिका को पास ही मे बुद्धिमान रक्खे। जल लाने के लिए घडे अलग रखने चाहिय। हस्तवासी शिला दीप दर्वी फल और जूते (उपानह), पिटक, चित्र-विचित्र पिच्क और नाना प्रकार की वस्तिया और इसी प्रकार क अन्य वस्तुओ को प्रयत्न-पूवक रक्खे। आगे के खभ मे सन्नाह आदि का भाण्ड रक्खें ।।३८–४१।।

पूव-मुख घर म उत्तर दिशा म घोडे का स्थान दे अथवा मित्र और वरुण के पूर्वाभिमुख पद म उसे स्थापित करें। इस व्यवस्था से बहुत से घोडे हो जाते हैं और व पुष्टि को प्राप्त करते है क्यो कि वह दिशा पूजनीय एव प्रशसनीय प्रकीर्तित की गयी है ।।४२–४३।।

होम शान्ति कम और दान जो धार्मिक क्रियाये कही गयी है उनमे स्वय इन्द्र से अधिष्ठित पूव दिशा प्रशस्त कही गयी है ।।४४।।

उस दिशा मे सूय अपनी स्वाभाविक दिशा म उदय होता है। फिर वह

घोडो के पीछे से क्रमश पश्चिम दिशा की तरफ जाता है। कल्याणार्थियो को घोडो का पूर्व-मुख स्नान सजावट (अधिवासन), पूजा तथा अन्य श्रेष्ठ मागलिक काय करने चाहियें ॥४५-४६॥

ऐसा करने पर राजा को भूमि सेना मित्र और यश वद्धि को प्राप्त होते है। इसलिए प्राची दिशा ही प्रशस्त कही गयी है ॥४७॥

वाछित अर्थ को देने वाला स्वामी की वद्धि करने वाला ग्राम का स्थान दक्षिणाभिमुख शाला मे विहित है। सूय के पद मे बनाया गया घोडो का स्थान होता है क्योंकि वह दिशा अग्नि मे अधिष्ठित कही गयी है और अग्नि घोडा की आत्मा कही गयी है। वहा पर बधा हुआ घोडा अजर और बहुभोक्ता होता है और उत्तर मुख वाले वाजि सदन म भी घोडे कल्याण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से घोडो के स्थित होने पर सूय दहिने उदय होता है फिर उन को दहिने करके अस्त होता है। घोडो के वाम भाग से निकलता है। इसलिए उनको उत्तराभिमुख स्थापित करना चाहिय। उनको इस प्रकार स बाधे जिस से चन्द्र और सूय के सम्मुख हिनहिनाये। राजा जय सिद्धि पुत्र और आयु को प्राप्त करता है और अश्व नीरोग रहते है और सन्तति को बढाते है ॥ ४८-५३ ॥

दक्षिणाभिमुख उनको कभी न करे क्योंकि दक्षिण दिशा पित काय के लिए कही गयी है। अत वह इस काम के लिए वर्जित है। इसी दिशा म सब प्रेत प्रतिष्ठित है और सूय बाय म उदय होता है और दक्षिण म अस्त होता है ॥ ५४-५५ ॥

चन्द्रमा पीछ हो जाता है जिससे घोडे स्वेद-पीडा स पीडित होते है और विविध ग्रहो के विकारो स अशान्ति-विह्वल व बेचार पीडित होते है। भय और व्याधियो से दु खित व घास को नही खाने की इच्छा करते है और मालिक की पराजय अतुष्टि अनर्थ उपस्थित करते है इसलिए कभी भी उनको दक्षिणाभिमुख न बाधे ॥५६-५८॥

पश्चिम दिशा म अर्थात पश्चिमाभिमुख घोडो को बाधने पर सदैव सूय पष्ठ भाग से उदय होता है और सामने से अस्त होता है। इस तरह नत-पष्ठ-वर्ती स्वामी की विजय नही होती और चन्द्र के पष्ठ-वर्ती होने के कारण और सूय की प्रतिकूल दिशा होने के कारण देह का विनाश करने वाली व्याधिया उन घोडो के लिए शीघ्र ही कुपित होती हैं। उन से वे घोडे घबराते हैं कापते है और जल म डरते है और घास को नही खाते हैं और सब प्रकार से पथ्वी

को छोडते है ॥ ५९–६१ ॥

आग्नेयी-दिशाभिमुख यदि घोडे बाधे जाते हैं तो रक्त पित्त से उत्थित अनेक रोगो से वे पीडित होते हैं और वे स्वामी को बधन, वध, हरण, शोक देने वाले होते है। घोडो के लिए भी वहा पर अग्नि से जल जाने का भय होता है ॥ ६२–६३ ॥

स्वामी को पराजय विघ्न और देह का सशय प्राप्त होता है यदि नैऋत्य दिशा मे घोडे बाध जाते है और तब भोजन और पान का अभिनन्दन नही करते है और अपने परो से बार बार पृथ्वी को फाडते हैं। मनुष्यो, पक्षियो और पशुओ को देख कर बार बार हेषन करते हैं और नैऋती दिशा के दोनो तरफ स्थित होकर अपने शरीरो को घुमाते है तथा इन से राक्षस लोग कुपित होकर उनका नाश करते है ॥ ६४–६७½ ॥

यदि ये अनान-वश वायव्याभिमुख बाधे जाते हैं तब वात रोगो मे व प्रतिदिन पीडित होते है। स्वामी का कलेवर चलायमान होने लगता हैं और उसके नौकरो के लिए क्लेश होता हैं। मनुष्यो की मृत्यु होती है और दुर्भिक्ष का भय पैदा होता है ॥ ६७½–६९½ ॥

ऐशान्याभिमुख बधे घोडे नाश प्राप्त करते है। सूर्योदय के अभिमुख बद्ध वाजियो के लिए यह आदेश करना चाहिए कि ब्राह्मी-दिशाभिमुख जब घोडे बाधे जाते है तो वे घोडे दिव्य-ग्रहो से बधते है और व्याधियो से चिन्तनीय हो जाते है। वहा पर स्वामी के लिए कव्य और हव्य की क्रियायें विजयावह नही कही गयी हैं। वहा पर घोडे ब्राह्मणो के लिए ताप-कारक हो जाते हैं। ॥६९½–७२½॥

शाला के प्रत्येक वश के पीछे घोडे का स्थान इष्ट नही होता है क्योकि स्वामी के लिए वह अजीर्ण कारक और घोडे के लिए नाश-कारक कहा गया है। इसलिए सर्वथा प्रशस्त स्थान मे उनको बसाना चाहिए ॥७२½–७३½ ॥

स्वस्थ घोडो के पास एक क्षण के लिए भी रोगी घोडो को नही बाधना चाहिए क्योकि रोगो के सक्रमण से स्वस्थ घोडे भी रोगी हो जाते है ॥७३½–७४ ॥

वाजि-शाला के पूर्व मे भेषज मन्दिर निर्माण कराना चाहिए और उसी के बाये तरफ सब सामग्री के रखने के लिये स्टोर बनाना चाहिये। घोडो की दवाई के लिए भाण्डो का विनिक्षेप करे और साथ ही साथ अगदो, औषधियो, तैलो, बर्तिया और लवणो का भी सग्रह अनिवार्य है ॥ ७५ ७६ ॥

भेषजागार के पास अरिष्ट-मन्दिर बनवाना चाहिए। रोगी घोड़ों के लिए व्याधित-भवन भी बनाने चाहियें ॥ ७७ ॥

ये चारों वेश्म पूर्व-निर्दिष्ट वेश्म के समान सुगुप्त एवं सम्बद्ध विहित करें। चूने के बंध से मजबूत दीवालों से प्राग्रीव और उच्च तोरण के सहित ये चारों विशाल (विना [illegible] बनवावें और इस प्रकार के वेश्मों में घोड़ों को स्थापित कर उनका परिपालन [illegible]

आयतन-नि[illegible]

[illegible] पर आयतन का अर्थ सम्भवत छोटा मंदिर या छोटा राज प्रासाद है। इस प्रकार से राज प्रासाद के कर लने पर अथवा भूमि के बलुप्त होने पर अनुजीवी यदि देव प्रासादों पर अपने प्रासादों [illegible] नृप-प्रासाद की परिधि मे निर्माण करना है तब उन के दिग्भाग, विन्यास, स्थान एवं मान का क्रमश सब लोगो की वृद्धि के लिए वर्णन किया जाता है ॥१–२॥

राजाओं के आयतन में श्रेष्ठ मध्यम और अधम तीन भेद होते है। इन तीनों आयतनों का क्रमश मान दश-शत चाप, अष्ट-शत चाप तथा षट-शत चाप होता है ॥३॥

इस प्रकार राजा के आयतन के चारों ओर चौकोर क्षेत्र [illegible] बना कर वहा पर स्वामि वत्सल वीर अपने तीन प्रकार के आयतन बना सकते है। राजा के जो लोग सम्मत है और कुछ हितैषी लोग है अथवा जो कुल [illegible] मे पैदा हुए हैं तो अनुजीवियों के आयतनों का क्रमश १२ अंश से हीन प्रमाण [illegible] से निर्माण करना चाहिए ॥४–५॥

उसी के वाम भाग पर दुगुन उत्सेध एव दुगुन अंतर से दश अंश [illegible] से हीन प्रमाण मे नैऋत्य दिशा मे राजा के प्रासादो को तथा राजा की सब पत्नियो [illegible] प्रासादो का विन्यास एव विद्वान निवेश करें ॥६–७½॥

पश्चिम दिशा मे आठ भाग से हीन श्वसुरो के आयतन बनवाने चाहियें, पुन सौम्य दिशा मे वायव्य-कोण की ओर क्रमश ६ अंश से हीन मन्त्री सेना-ध्यक्ष प्रतीहार और पुरोहित–इन सब के प्रासाद क्रमश बनाने चाहिए। इन्हीं के पूर्व-भाग मे स्थित राज माता का निवेश करना चाहिए और वह ग्यारह अंश से हीन बनवाना चाहिए ॥७½–१०½॥

ईशान दिशा का अवलम्बन कर के एन्द्र पद की अवधि तक देवों के समान बहिनों मामा लोगों और कुमारों के क्रमश, आयतन बनाने चाहिए। आग्नेय कोण मे द्विज-मुख्यों के निवेशन बनाना चाहियें। पुरोहित का प्रासाद राज-मन्दिर से

दक्षिण दिशा में आठ यज्ञ-होम बनाना चाहिए ॥१०½-१२॥

सामान्य इन्द्रियकर शटो और परिजना के क्रमश आयतनों का यथाभाग निर्माण करना चाहिए। ममवेध-प्रदेश-स्थित अथवा द्वार-वेध स्थित और स्तम्भ तालनिल आयतना का निर्माण हित-कामना रखने वाले व्यक्ति को नहीं बनवाना चाहिए ॥

भीतरो के द्वारा, गर्भ-कोष्ठो के

द्वारा द्वार-द्रव्य के तल की ऊचाइयाँ आगोवो सिहकर्णो एव भूषणो गवाक्षो के को नहीं करना चाहिए, क्योकि जो सम-रूप होगा वही सुखदायक। वध के अभिवृध से राज-पीडा और कुल-क्षय होता है ॥१५-१७½॥

जो निपुन होगा वह आनन्द नहीं दे सकता। राजा के प्रासाद की परिधि में स्थित किसी भी निवेश को किसी भी द्रव्य से उत्कृष्ट नहीं करना चाहिए। अथवा उसका सस्थान मान विस्तार और ऊचाई में भी उत्कृष्ट नहीं करना चाहिए ॥१७½-१८॥

पूर्वोक्त भागो से कुछ कम शुभ कहलाता है। पारस्परिक अन्तर दुगुने छाद्य से शुभ कहा गया है और बहुत से अवकाशतरो से उसको सुन्दर बनाना चाहिए। वाष्ठिकाओ (कोठरियो) भोजनागार (रसोई) तथा भाण्डागार (बर्तन रखने के स्थान) उपस्करागार (वस्तुओ के रखने के स्थान) से यह सुभोग्य होता है। ॥१९-२०॥

अब अवशेष स्थानो को भी यही किया है। शालाओ से युक्त कर बना चाहिए। शुभ रूप मनोरम तथा प्रशस्त सब प्रासादो को बनाना चाहिए ॥२१॥

अब राजा के आयतन के निवेश से पृथक अन्य आलयो का और सब के आयत गृहो का निर्माण करना चाहिए अन्यथा विपरीताचरण से और उलट-फेर से कुल-नाश और महादोष उपस्थित होते है ॥२२-२३॥

इस प्रकार से प्रतिपादित शिलाओ आदि के भेद वश से जिस राजा के सुर-भवन होते है वह अविरत-मुदित उदित प्रताप वाला अपने प्रताप से जीती हुई इस पृथ्वी को बहुत काल तक शासित करता है ॥२३½-२४॥

तृतीय पटल

शयनासन

शयनासन-लक्षण

अब शयनासन लक्षण कहूँगा जिस से शुभ और अशुभ का परिज्ञान हो जाय ॥१॥

शय्या मैत्र मुहूर्त मे चन्द्रमा के पुण्य नक्षत्र मे स्थित होने पर शुभ दिन देवताओं का सम्यक पूजन करके कर्म का आरम्भ समाचरित करे ॥२॥

शयनासन निर्माण मे चन्दन तिनिश अर्जुन तिन्दुक साल और साल शिरीष आमा धनु हरिद्रु देवदारु स्यन्दन आक पद्मक श्रीपर्णी शिंशपा शिंशपा और भी जो शुभ वृक्ष है, वे प्रशस्त कहे गए है ॥३–४॥

गृह-कर्म मे जो अनिष्ट वृक्ष कहे गये है वे शयनासन मे भी निन्दित है। सोने से चादी से या हाथी दांत से जड़ी हुई पीतल से नद्ध शय्याएं शुभ कही गई हैं। विचक्षणों के द्वारा इनका निर्माण कराया जाना चाहिए ॥५–६–॥

जब शयनासन के लिए लकडी काटने के लिये प्रस्थान करे तो पहिले निमित्तो को देखे। दधि, अक्षत से भरा हुआ घडा रत्न अथवा पुष्प सुगन्धित द्रव्य वस्त्रादि मछली घोडो का जोडा मत्त हाथी और अन्य इसी प्रकार के शुभो को देख कर शुभ का आदेश करना चाहिए ॥६½–८॥

वितुष आठ यवो से कम का अंगुल समुद्दिष्ट किया गया है। इस तरह १०८ अंगुलो की ज्येष्ठ शय्या राजाओ के लिए कही गयी है ॥९॥

१०४ अंगुलो की राजाओ की मध्यम शय्या कहलाती है और कनिष्ठ शय्या १०० अंगुलो की राजाओ के लिए विजयावह बताई गई है ॥१०॥

राजा के लडके की ९० अंगुल की मन्त्री की ८४ की सेनापति की ७८ की और पुरोहित की ७२ की शय्या विहित है ॥११॥

शय्याओ मे आयाम के आधे मे सब विस्तार कहा गया है अथवा आठ भाग से अथवा छै भाग से अधिक ॥१२॥

ब्राह्मणो की शय्या ७० अंगुल दीर्घ होनी चाहिए और दो दो अंगुलो से शेष हीन वर्णों की ॥१३॥

उत्तम शयनासन के उत्सेध का बाहुल्य तीन अंगुल होना चाहिए तथा मध्य का ढाई और कनिष्ठ का दो ॥१४॥

ईशा-दण्ड का बाहुल्य उत्पल के बराबर होना चाहिये और उस का विस्तार उत्पल से आधा, चौथाई अथवा एक तिहाई होता है ॥१५॥

शय्या के आधे विस्तार से कुष्य का विस्तार होता है और उस के पाया की ऊचाई मध्य से हीन दो चौर छोड कर विहित है (मध्यहीनौ द्विचतुरुज्झितौ) ॥१६॥

मध्य-विस्तार के आधे से मध्य मे बाहुल्य इष्ट है। कोई लोग तीन भाग से हीन, अथवा एक पाद से हीन उसे चाहते हैं ॥१७॥

नीचे के शीप से पाये की मोटाई उत्पल के समान होती है। मध्य में एक चौथाई अथवा आधी क्रमश तल मे वृद्धि होती है ॥१८॥

अन्य विवरण भी शास्त्रानुकूल विहित है ॥१९॥

उत्सेध के समान दो अंगुल में अधिक विस्तार करना चाहिए और उस पत्ता, कलिया पत्रपुटा और ग्रास से भूषित करना चाहिए ॥२०॥

चारो ओर शय्या के अग्र प्रदक्षिणाग्र करने चाहिए। ऊर्ध्वाग्र सब पाद स्वामी की वृद्धि के लिये होते हैं ॥२१॥

एक ही द्रव्य से उत्पन्न होने वाली अर्थात निर्मित शय्या श्रेष्ठ कहलाती है और मिश्र द्रव्य वाली प्रशस्त नही कही गई है। एक लकडी वाली प्रशंसित होती है और दो लकडी वाली भयजनक होती है ॥२२॥

तीन लकडी से बनी हीन पर नियत ही वध है। इस लिये एसी शय्या का वर्जन करना चाहिए ॥२३॥

अग्र भाग से युक्त मूल और बाए हाथ से युक्त निर्दिष्ट कहा गया है। अथवा मूल मूलविद्ध एवं एकाग्र मे दो लकडिया होती है यह भी वध्य है॥२४॥

मध्य मे अगर छेद हो तो मृत्यु कारक त्रिभाग में व्याधिकारक और चतुर्भाग में धनेश और सिर मे स्थित द्रव्य हानिकारक होता है ॥२५॥

निर्दोष अग वाले पर्यङ्क में पाप-स्वप्न नहीं दिखाई पड़ती हैं। इस लिये गाठ और कोटर वाला पर्यङ्क नहीं बनाना चाहिए ॥२६॥

आसन और शयनीय गाठो एवं कोटरो से वर्जित होने पर बहुपुत्र धन वाला और धर्म काम और अर्थ का साधन वाला कहा गया है ॥२७॥

खाट पर आरोहण करने पर यदि वह चलायमान होती है अथवा शब्द करती है तो क्रमश विदेशगमन अथवा कलह प्राप्त होते है ॥२८॥

इस लिये उसको स्थपति सुश्लिष्ट, निर्दोष वर्णशालिनी दृढ, स्थिर

बनाये । ऐसा करने पर स्वामी की मनोरथ-वृद्धि होती है ॥२९॥

निष्कुट कोलट्क क्रान्नयन, वत्सनाभक कालक और बधक ये सर्वप मे छिद्र कहे गये है ॥३०॥

मध्य में घट के समान सुषिर तथा मकरा मुख वाला निष्कुट नाम से कहा जाता है । कोलाक्ष उडद के निकलने लायक छिद्र होता है ॥३१॥

आधे आधे पोर में दीर्घ विवर्ण और विषम छिद्र को महर्षियों ने क्रान्नयन कहा है ॥३२॥

पर्वमित भिन्न वामावर्त वत्सनाभक कहलाता है। कृष्ण कांति वाला कालक तथा विनिर्भिन्न बधक कहा गया है ॥३३॥

लकडी के वर्ण वाला छिद्र शुभकर नहीं होता है । निष्कुट में अर्थ का नाश कोलट्क में कुल विद्रोह, क्रोड-नयन में शस्त्र से भय, वत्सनाभक मे रोग से भय और कालक मे बधक मे—इन दोनों के कीट विद्ध होने पर शुभ नही होता ॥३४–३५॥

वह सब लकडी जिस में सब जगह बहुत अधिक गाठें होती है वह अनिष्ट-दायक कही गई है ॥३६½॥

आसन—शय्या के लिये कही गई लकडियो से निर्मित आसन बैठने मे सुख-दायक प्रकल्पित किया गया है । उसका पुष्कर और सूदहस्त चार चार अगुल से पार्श्व होना चाहिये । विस्तार से आरम्भ कर जब तक ना अगुल न हो जाए । पुष्कर के व्यास से उसका चौगुना दण्ड बनाना चाहिए ॥३८½-३८॥

पुष्कर के आधे से फनक और उसके समान भूलक-दण्ड और पुष्कर के विस्तार से चार अंश मोटा बनाना चाहिए ॥३९॥

पुष्कर का अंतर्भाग खुदा हुआ गम्भीर इष्ट है। प्रशस्त सार नामक लकडी से इस का निर्माण करे ॥ ४० ॥

अब अन्य फर्नीचरों का वर्णन करता हूं ।

कंघे—कंघा बडा ही चिकना बनाना चाहिए और उसे चिकने तने वाली लकडी से बनाना चाहिए । इसकी लम्बाई ८ अंगुल से १२ अंगुल होनी चाहिए । इसका विस्तार लम्बाई से आधा अंगुल सहित ४ भाग होता है ॥४१-४२॥

उसके मध्य में विस्तार के आठवें अंश से बाहुल्य कहा गया है और उस के एक में स्थूल-विस्तार वाले दंतक कहे गये हैं। दूसरे से आगे के तरफ घने सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण दन्तकों का निर्माण करना चाहिये । मध्य में तीन भाग को छोड कर दोनों भागों में दन्तकों का निर्माण करना

चाहिये उनके तीन भाग के हर लेने पर यदि कुछ शेष न रहे तो उनको छोड़ देना चाहिये । हाथी के दांत अथवा गाखोट (गाबू) वृक्ष से निर्मित श्रेष्ठ कहलाते हैं । मध्यम अन्य शेष लकडियों से और जघन्य अर्थात निकृष्ट असार- दारु से निर्मित होता है । स्वदिर आदि काष्ठों से मध्य भाग को अलंकृत करना चाहिए ।।४३-४६।।

यूका आदि के अपनयन के लिये तथा केश प्रसाधन के लिये यह कंघा काम में लाया जाता है ।।४७।।

पादुका —दो पादुकाओं की लम्बाई पाद से एक अंगुल से अधिक बनानी चाहिये । लम्बाई के पांच भाग करने पर सामने तीन भाग में पीछे दो भाग से इस प्रकार से इसका संग्रह-विधान है ।।४८।।

तीन अंगुलों की ऊंचाई और चरणों के अनुसार उस का विस्तार, अंगुल और अंगुष्ठ के दोनों मध्य भाग में रत्न आदि से अलङ्कृत करना चाहिए ।।४६।।

दन्त सींग आदि से उसकी दोनों खूंटियों का निर्माण होना चाहिए ।।५०३।।

गज इ द त, श्रीखंड, श्रीपर्णी मद अगिका, नाख, क्षीरिणी, चिर अथवा जल की लकडियां खडाऊ के लिये प्रशस्त कही गई हैं ।।५०१-५१३।।

इस प्रकार से यहां पर शय्याओं का और आसनों के लक्षण बता दिये और उसके बाद दर्वी और कंकत और पादुकाओं का ठीक तरह से लक्षण बता दिया गया और शुभ और अशुभ संपूर्ण लक्षणों को जान कर विद्वान पूजा को प्राप्त होता है ।।५२।।

चतुर्थ पटल

यन्त्र-घटना

यन्त्र बीज

यन्त्र गुण

यन्त्र प्रकार

(अ) आमोद

(ब) सेवक

(स) योध एव द्वारपाल

(य) सग्राम

(र) विमान

(ल) धारा एव

(व) दोला

यन्त्र-विधान

अनन्य मध्य घूमते हुये सूर्य एव चन्द्र मण्डल के चक्र से प्रशस्त इस जगत्रय-रूपी यन्त्र की सम्पूर्ण भूता (पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश) तथा बीजों (उपादान कारणों) को सम्प्रकल्पित कर जो सतत घुमाते है, वे कामदेव को जीतने वाले (भगवान शंकर) तुम लोगों की रक्षा करें ॥१॥

क्रम से प्राप्त अब यन्त्राध्याय का वर्णन करता हू। यह यन्त्र-विधान धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का एक ही कारण है ॥२॥

अपनी इच्छा से अपने मार्ग से प्रवृत्त महाभूतो (पृथ्वी आदि) का नियमन कर जिस में नयन होता है उस को यन्त्र कहा गया है। अथवा अपनी बुद्धि से अपनी स्वेच्छा में प्रवृत्त महाभूतो का जिस में निर्माण-कार्य यमित होता है, उसको यन्त्र कहते हैं ॥३-४॥

उस यन्त्र के चार प्रकार के बीज कहे गये हैं—पृथ्वी जल, अग्नि और वायु। इन चारों का आश्रय होने की वजह से आकाश भी पाचवा बीज उपयुक्त होता है ॥५॥

सूत अर्थात पारे को जो लोग एक अलग बीज मानते है वे ठीक नही जानते। सूत प्रकृति से वास्तव में पार्थिव बीज ही है। जल, तेज और वायु की उस मे क्रिया होती है। चूंकि यह पार्थिव है अत यह पारा अलग बीज नही है। अथच इसके द्रव्यत्व होने के कारण जो अग्नि का उत्पादक होना परिकल्पित किया गया है तब इस का अग्नि से विरोध नहीं उत्पन्न होता और पृथ्वी गन्धवती होने के कारण और अग्नि से विराध होने के कारण बलात इसमे पार्थिवत्व स्थापित हो ही जाता है ॥६-८॥

अथवा पाचों महाभूत एक दूसरे के स्वयं बीज होते है तथा और भी बीज होते है और इस प्रकार सांकर्य (मिश्रण) से इनके बहुत से भेद होते हैं ॥९॥

यन्त्र नाना प्रकार के होते हैं जैसे स्वयं वाहक (Automatic) सकृत्प्रेर्य (Propelling only once) अन्तरित-वाह्य तथा अदूर-वाह्य। पहला भेद स्वयं वाहक उत्तम कहा गया है और अन्य तीन निकृष्ट। उनमें दूरस्थ अलक्ष्य निकट स्थित की प्रशंसा की गई है। जो अनल्प उत्पन्न होता है और जो बहुतों का साधक है यथा यह मनुष्यों के लिये विस्मय [illegible] कारक [illegible] गया है।

विस्मयकारी इस बाह्य यन्त्र मे एक अपनी गति होती और दूसरी वाहक मे आश्रित होती है। अरघट्ट घटी म आश्रित कीडे म से दोनो दिखाई पडती है। इस प्रकार दो गतिया से वचित्र्य का कल्पन स्वयं कर और न दिखाई पडने वाली जो विचित्रता होती है, वह य त्रो म अधिक प्रशस्त मानी गई है ॥१०--१५½॥

और दसरा भेद जो कहा गया है वह भीतर से चलाया जाता है। उसे मध्यम कहते है। दो तीन के योग से अथवा चारा के योग से प्रशाखि-भाव से भूता की यह सख्या बहुत बढ जाती है। जो मनुष्य इन सब बातो को ठीक जानता है, वह स्त्रियो का, राजाओ का, विद्वानो का प्रिय होता है। और लाभ, ख्याति, पूजा, यश, मान क्या क्या नही प्राप्त करता है जो मनुष्य इस का तत्वत जानता है ॥१५½—१८½॥

यह विलासो का एक ही घर, आश्चय का परम पद, रति (काम क्रीडा) का आवास-भवन (निकेतन, घर) तथा आश्चय का एक ही स्थान कहा गया है ॥१८½—१९½॥

देवता आदिको की रूप एव चेष्टा दिखाने से वे लोग (देवता लोग) सन्तुष्ट होत ह और उनकी सन्तुष्टि को ही पूर्वाचार्यों द्वारा धम कहा गया है। राजाओ आदि क सन्तोष से धन प्राप्त होता है (इस प्रकार धम क बाद अथ-सिद्धि हुई)। अथ से ही काम (इच्छा, मनोरथ आदि) प्रतिष्ठित कहे गये हैं। इसका निर्माण धन साध्य है और मोक्ष भी इस से दुलभ नही ॥१९½—२१½॥

पार्थिव बीज — यह बीज पार्थिव बीजो से, जल से उत्पन्न होने वाले पदार्थों स, वही तेज से उत्पन्न होने वालो से और वही वायु स उत्पन्न होने वाला मे विहित है। आप्य अर्थात जल सम्बन्धी बीज आप्य बीजो से उसी प्रकार अग्नि सम्बन्धी एव वायु सम्बन्धी बीजो स विहित है। वह्नि-बीज वायु से उत्पन्न होने वाले और पार्थिव एव वारुण बीजो से भी तथैव विहित है। मारुत बीज वायु, जल, पृथ्वी एव अग्नि सम्बन्धी बीजो से वैसे ही विहित है। वह्नि से उत्पन्न होने वालो द्वारा भी बीज होता है। वह पारा होता है। वह अनिल मे भी होता है। पार्थिवो का भी और आप्यो का भी जल जलीय बीज होता है। इस प्रकार सब भूतो के सम्पूर्ण बीजो का कीतन हुआ ॥२१½—२४½॥

कुडयकरण सूत्र भार गोलक-पीडन, लम्बन, लम्बकार और विविध चक्र लोहा, ताबा, तार (पीतल) रागा, सम्वित, प्रमदन काष्ठ, चम वस्त्र—य सब अपने बीजो म प्रयुक्त होते ह ॥२४½—२७½॥

ऊदक, वतर, यष्टि चक्र और भ्रमरक भ्रगावली और बाण ये भी बीज और कहे गये है ॥२७½—२८½॥

जल के सम्पर्क से उत्पन्न ताप उत्तेजन, स्तोभ और क्षोभ इत्यादि पार्थिव बीज के अग्नि–बीज कहे गये हैं ॥२८½—२९½॥

धारा जलभार जल की भवर इत्यादि पृथ्वी से उत्पन्न जलज बीज कहे गये है ॥२९½—३०½॥

जसी ऊचाई जैसी अधिकता और जैसी नीरन्ध्रता (सटा हुआ) और अत्यन्त ऊर्ध्व-गामित्व (ऊचे जाना) ये लोह के अपने बीज हैं ॥३०½—३१½॥

स्वाभाविक वायु गाढ-ग्राहकों के द्वारा प्रेरित होकर पत्थरों में पक्षियों म, गज-कणादिको में भी निर्मित, चालित और गलाया हुआ ये वायु पार्थिव भूत मे बीज होता है। काष्ठ (लकडी) चमडा और लोहा जल में उत्पन्न होने वाले बीज मे पार्थिव होना है ॥३१½—३२½॥

दूसरा जल वह भी तिरछा ऊचा और नीचा जल-निर्मित यन्त्रो मे अपना बीज होता है। ताप आदि पहले कहे हुए वह्नि से उत्पन्न जल मे से उत्पन्न होते हैं ॥३३½—३४॥

सग्रहीत, दिया हुआ और भरा हुआ और प्रतिनोदित अर्थात प्ररित वायु जल-यन्त्रो म बीज बनता है ॥३५ ॥

वह्नि से उत्पन्न होने वालो मे मिट्टी ताबा सोना, लोहा आदि तदनुकूल बीज-विचक्षण विद्वान इस वास्तु-शास्त्र मे उसे पार्थिव बीज कहते हैं ॥३६॥

वह्नि में वह्नि-बीज, जल में जल और पहिले कहे हुये पत्थर आदि से वायु बीजता को प्राप्त होता है ॥३७॥

प्रत्येक अर्थात् पदार्थ-सम्बन्धी (Material) जनक प्रेरक और ग्राहक तथा सग्राहक रूप म वायु से उत्पन्न होने वालो के द्वारा पार्थिव बीज कहलाता है ॥३८॥

प्ररण और अभिघात विवत तथा भ्रमण रूप म वायु से पैदा होने वालो में जलज बीज सम्मत होता है ॥३९॥

ताप आदि से जो पवन में उत्पन्न होने वालो क द्वारा जो होत है व पावक-सम्बन्धी बीज में सगृहीत किए गय ह ॥४०॥

प्ररित, सग्रहीत और जनित रूप में वायु अपना बीज होता है। इसी प्रकार स और भी कल्पना कर ले ॥४१॥

एक भूत अत्यधिक दूसरा हीन, तीसरा और भी अधिक हीन। इसके अतिरिक्त दूसरा और भी हीन। इस प्रकार विकल्प से इन बीजो के नाना भेद होते है। उनका पूर्ण रूप से कौन कह सकेगा ॥ ४२-४३½ ॥

पृथ्वी तो निष्क्रिया है और उस में जो क्रिया है वह अंश में बचे हुए तीनों भूतों—वायु, जल, अग्नि में होती है। इस लिए वह क्रिया पृथ्वी में ही प्रयत्न पूर्वक उत्पन्न करने योग्य है और ऐसा करने पर साध्य अर्थात् उपादान कारण पृथ्वी का रूपवशात् सन्निवेश होता है ॥४४½—४५॥

यन्त्र-गुण—यन्त्रों की आकृति जिस प्रकार न पहचानी जा सके उस प्रकार ठीक तरह से बीज-संयोग करना चाहिए। उनकी बहुत सुदृढ़ जड़ावट और सफाई होनी चाहिए। इस प्रकार यन्त्रों के निम्नलिखित गुण कहे गये हैं—सौश्लिष्ट्य, श्लक्ष्णता, निर्वहण, लघुत्व, शब्द-हीनता और जहां पर शब्द ही साध्य अर्थात् उपादान कारण हो वहाँ पर आधिक्य अशैथिल्य और अगाढ़ता कहे गये हैं। अथवा सभी वाहक-यन्त्रों में सौश्लिष्ट्य, अस्खलितत्व, अभीष्टार्थ-कारित्व, लयतालानुगामित्व इष्ट-काल में अर्थ-दर्शित्व और फिर ठीक तरह से गोपन, अप्रकाशन, अनुल्बणत्व, ताद्रूप्य मसृणत्व (चिकनाहट), चिरकाल-सहत्व—ये सब यन्त्र-गुण हैं ॥४५–४९½॥

पहला भेद बहुतों को चलाने वाला और दूसरा भेद बहुतों से चलाये जाने वाला कहा गया है ॥४९॥

यन्त्रों का न दिखाई पड़ना और ठीक तरह से उनकी जड़ाई होना परम गुण कहा गया है ॥५०½॥

अब इस के बाद यन्त्रों के विचित्र विचित्र कार्यों का यथाविधि न विस्तार से न संक्षेप से वर्णन करता हूं ॥५०½–५१½॥

किसी की क्रिया साध्य होती है और किसी का काल और किसी का शब्द, और किसी की ऊंचाई अथवा रूप और स्पर्श। इस प्रकार कार्यवशात् क्रियायें तो अनन्त परिकीर्तित की गई हैं। ५१½-५२॥

क्रिया से उत्पन्न होने वाले भेद हैं—तिरछे ऊपर नीचे पीछे आगे अथवा दोनों बगलों में भी गमन, सरण और पात भेद से अनेक भेद हैं।५३।

जहां तक यन्त्र से काल-ज्ञान की बात है वह काल, समय बताने वाले घटा-ताडनों के भेदों से अनेक भेद वाला होता है। यन्त्रों से उत्पादित शब्द विचित्र, सुखद, रतिकृत भी और भीषण भी होते हैं। उच्छ्राय गुण तो जल का होता है। वही पर पार्थिव में भी कहा जाता है॥ ५४ ५५½॥

गीत, नृत्य और वाद्य (गाना, नाचना और बजाना पटह वंश, वीणा, कांस्यताल (मजीरा), तुमला, करटा और भी जो बाजे विभावित होते हैं वे सभी यन्त्रों से उत्पन्न होते है।५५½-५७½॥

नत्य में नाटकीय नत्य होता है उसके ताडव, लास्य राज मार्ग और देशी ये सब भेद यन्त्र से सिद्ध होत हे ॥५७½-५८½॥

उसी प्रकार स्वाभाविक चेष्टाये या विरुद्ध चेष्टाये व भी यन्त्र की सम्यक साधना से निष्पन्न होती हैं ।५८½-५६½॥

पृथ्वी पर रहन वालो की आकाश म गति आकाश म चलने वालो की भूमि म गति मनुष्यो की विविध प्रकार की चेष्टाये तथा विविध मनोरथ य सब यन्त्र के निर्माण से उत्पन्न होते हैं ॥५६½-६०॥

जिस प्रकार से असुर का हार और जिस प्रकार से देवा के द्वारा समुद्र मथन हुआ और उनका, नसिंह भगवान द्वारा हिरण्यकशिपु नामक दैत्य मारा गया हाथियो का युद्ध और छोडना तथा पकडना और जो नाना प्रकार की चेष्टाय है और विविध प्रकार के धारा गह और विचित्र झूला की केलिया और विचित्र रति गह और विचित्र सेना तथा कुटिया एव सेवक (Automatic) तथा विविध प्रकार की सच्ची और झूठी सभायें और इस प्रकार जितनी बाते ह व सब यन्त्र के कल्पन से सिद्ध होती है ।६१-६४॥

शय्या-प्रसपण य त्र —पाच भूमिकाओ अथात खण्डो का निमाण कर पहिले खड म स्थित शय्या प्रति पहर दूसर खण्डो म प्रसपण करती हुई पाचव खड म पहुँच जाती ह । इस प्रकार व चित्र विचित्र आइन्य य त्र स ठीक सिद्ध होत है ॥६५-६६½॥

नाडी-प्रबोधन-य त्र --शय्यापरिसपण य त्र कीतित हो चुका है अब पुनि-का नाडी-प्रबोधन-यन्त्र का वणन करते है । क्रमश तीन सौ आवत म स्थायी म यह दातो को घुमाती है । उस क मध्य मे बनायी हुई पुतली प्रति नाडी म जगाव और यन्त्र के द्वारा वह्नि का जल म दशन वह्नि के बाच से जल का निकलना अवस्तु स वस्तुत्व वस्तु से अन्य प्रकार की चीजे दिखाना एक सास म आकाश जाती है, एक सास में पृथ्वी आती है ॥६६½-६८॥

गोलक-भ्रमण-यन्त्र —अब गोल-भ्रमण यन्त्र का वणन है, जो सूर्यादि-ग्रहो की गति प्रदशन कराती है । क्षीर-सागर के मध्य मे एक सुदर नाग-नाग के फण पर शय्या बनायी जाती है और सूची विद्दित गाता सूय ग्रहो का प्रदक्षिणा करता हुआ दिन रात घूमता हुआ ग्रहो के दशन कराता है । लकडी के गज आदि रूप अथवा रथिक रूप मे दिखलाया गया मनुष्य नाली के द्वारा घूम कर बाज की गति से चार कोश तक जाता है ॥ ६८ ७१½ ॥

पतनी के द्वारा दीपक मे तेल डालने वाला यन्त्र है। बनी हुई दीपिका-पुत्तलिका ताल की गति से नाचती हुई धीरे २ दीप मे तेल डालती हैं। यन्त्र के द्वारा बनाया गया हाथी वह जाता हुआ नही दिखाई पडता। जब तक पानी हो तब तक वह निरन्तर पानी पीता रहता है। यन्त्र-शुक आदि बनाये गये जो पक्षी बार बार नाचते हैं, पढते है और मनुष्य का आश्चर्य करते है वे सब प्रमोद वितरण करते है। यन्त्र के द्वारा बनी पुतली अथवा गजेन्द्र अथवा घोडा अथवा वानर भी ताल से उछलते पलटते नाचते मनुष्य के मन को सुन्दर लगते हैं ॥७१½-७४½॥

जिस मार्ग से खेत धन होता है उस से वह पानी जाता है और आता है फिर उसी के समान गड्ढे से पुष्करिणियो से पानी आता जाता है ॥७४½-७६½॥

फलक पर बैठ चढ़ती है, दौडती, है ताली बजाती है, और लडती है, नाचती है गाती है, वाम आदि को बजाती है। वायु के बंद हो जाने पर फिर छोड़ देने पर यन्त्र की भंगिया की जो दिव्य और मानुष्य चेष्टाये होती है न ही केवल वही और भी जो कुछ भी दुष्कर होता है यन्त्र के द्वारा सिद्ध होता है ॥ ७६½-७९½ ॥

यन्त्रो का निर्माण अज्ञानता-वश नही बल्कि छिपाने के लिए, नही कहा गया है। उसका कारण यह जानना चाहिये कि यन्त्र व्यक्त हो जाने पर फल-प्रद नही होते। इसी लिये यहाँ पर उनका बीज बता दिया गया बल्कि उनकी घटना निर्माण नही बताई गयी। क्योंकि व्यक्त हो जाने पर न तो स्वार्थ-सिद्ध हो सकता है न कौतुक ही हो सकता है और वास्तव मे तो यन्त्रो के बीज अर्थात साधन कीर्तन करने से घटना आदि सभी कुछ कह दी गई है ॥७९½-८१ ॥

बुद्धिमान लोगो को, अपनी बुद्धि से जैसा जो यन्त्रो का कर्म होता है उस को समझ लेना चाहिए और जो यन्त्र देखे गये हैं और जो वर्णित किये गये हैं उन को भी समझ लेना अथवा अनुमान कर लेना चाहिए ॥८२॥

जो यन्त्र सुन्दर एवं सुखद है उनका उपदेश के द्वारा बता दिया गया है। यह सब हमने अपनी बुद्धि से कल्पित कर लिया है। अब आगे पुरातनो (आचार्यों) के द्वारा जो प्रतिपादित किया गया है उसको कहता हूं। यन्त्रो के सम्बन्ध मे चार प्रकार का बीज उन लोगो ने कहा। उनका प्रत्येक का विभाग जल, अग्नि पृथ्वी और वायु के द्वारा बहुत प्रकार का कहा गया है और उनके पारस्परिक मिश्रण एवं साम्य से फिर ये यन्त्र अगणित कहे जाते है। संसार में यन्त्रो से बढ़ कर

और कौन सी आश्चर्य की बात है अथवा इस के अतिरिक्त और कौन सा तुष्टि का साधन है और आश्चर्य-जनक वस्तु है। इस से बढ कर कीर्ति का भी कौन सा स्थान है और यन्त्र के अतिरिक्त दूसरा काम-सदन या रति-केलि निकेतन भी दूसरा नहीं है। इस से बढ कर पुण्य अथवा ताप शमन का और कौन सा उपाय है ॥८३—८५॥

सूत्र-धारा के द्वारा योजित बीज-योग अत्यन्त प्रीति देने वाले हो जाते हैं। भ्रान्ति जनक और विस्मय-कारक लकड़ी से निर्मित दोला (झूला) आदि विस्मय-कारक चक्र हैं। अतः ये यन्त्रों का पांचवा बीज हुआ ॥८६॥

वही आदमी चित्र विचित्र यन्त्रों का निर्माण करना जानता है जिस में यह समग्र सामग्री होती है—परम्परागत कौशल, उपदेश युक्त अर्थात् गुरु से प्राप्त शास्त्राभ्यास, वास्तु-कर्म उद्यम और निर्मल बुद्धि ॥८७॥

जो लोग चित्र-गुणों से युक्त यन्त्र-शास्त्राधिकार वाले इन पांचों बीजों को जानते हैं अथवा जो इन बीजों को पूर्ण रूप से योजना करते हैं उनकी कीर्ति स्वर्ग और भूमि दोनों पर फैलती है ॥८८॥

एक अंगुल से मित (नापा गया) और अंगुल के एक पाद से ऊंचा दो पुट वाला, गोल आकृति वाला ऋजु बीच में छेद वाला सदृढ सन्धि वाला और मजबूत नाल में निर्मित उसे सम्पादित करे। लकड़ी के बने हुए पंखियों में उसको उनके भीतर क्षिप्त कर निकलती हुई वायु के द्वारा चलने पर सुन्दर शब्द करता है और सुनने वालों के लिए आश्चर्य कारक होता है ॥८९-९०॥

सुदृढ दो खंडों से सरन्ध्र (छेद-सहित) मध्य भाग मुरज नामक वाद्य-यन्त्र की आकृति के समान निर्मित कर दो कुण्डलों में प्रस्त कर बीच में मृदु पुट देवे और पूर्वोक्त यन्त्र की विधि से इसके उदर के क्षिप्त होने पर शय्या तल पर स्थित यह यन्त्र सञ्चरण में अनङ्ग-क्रीडा के रसोल्लास करने वाली ध्वनि करता है और इस के शय्या-तल के नीचे रखने पर सुन्दर सुन्दर मनोमोहक विचित्र शब्द छोड़ता है जिससे मृग शिशुओं के समान नेत्र वाली नायिकाओं का भय से मान चला जाता है और इन प्रेमासक्तों दयिताओं को अपने प्रिय के प्रति आसक्ति और अधिक २ काम क्रीडायें प्रौढि को प्राप्त होती है ॥९१-९३॥

पटह मुरज वंश, शंख विपञ्ची काहला दमरू डिण्डिम आदि वाद्य यन्त्र और आतोद्य-यन्त्र Instruments by beating) बड़ा ही मधुर और चित्र रूढ और उन्मुक्त वायु से भरे हुवे ध्वनि करने में समर्थ होते हैं ॥९४॥

अम्बरचारि-विमान-यन्त्र —अब अम्बरचारि-विमान यन्त्र का वर्णन करते हैं। छोटी लकड़ी से बनाया गया महा विहग बना कर और उसके शरीर को दृढ़ और सुश्लिष्ट अर्थात् खूब सटा और जुड़ा हुआ बना कर उस के अन्दर पारा रक्खे और उस के नीचे अग्नि के स्थान को अग्नि से पूर्ण करे और उसमें बैठा हुआ पुरुष उसके दोनों पक्षों के सञ्चालन से प्रोज्झित वायु के द्वारा भीतर रक्खे हुए इस पारद की शक्ति से आकाश में आश्चर्य करता हुआ दूर तक चला जाता है। इसी प्रकार से यह बड़ा दारु विमान सुर-मन्दिर के समान चलता है और विधि पूर्वक इसके भीतर चार पारे से भरे हुए दृढ़ कुम्भों को रक्खे। लोहे के कपाल में रक्खी हुई मन्द वह्नि के द्वारा तपे हुए (तप्त) कुम्भों से उत्पन्न गुण से सम्पन्न और गर्जन करता हुआ पारद की शक्ति से आकाश का अलंकार बन जाता है अर्थात् आकाश में उड़ जाता है ॥९५—९८॥

सिंहनाद यन्त्र —अब लाट् के यन्त्र को खूब ठीक तरह से कसकर और उसके अन्दर पारद को रखकर और फिर वह ऊंचे प्रदेश में रक्खा हुआ सिंहनाद मुरज (वाद्य विशेष) की ध्वनि करता है। इस नर-सिंह की महिमा विलक्षण है। इसके सामने मद और जल को छोड़ने वाले हाथियों की घटायें भी इसके गम्भीर घोष को बार-बार सुन कर अंकुश की भी परवाह न कर शीघ्र भागने लगते हैं ॥९९ १००॥

दासादि परिजन-यन्त्र —आख ग्रीवा, तल-हस्त प्रकोष्ठ (भुजा का मणि बन्धन) बाहु उरु हस्त की अंगुलियां आदि अखिल शरीर छिद्रों सहित बना कर और उसकी सन्धियों को निर्दिष्ट करना करे, कीलों से खूब श्लिष्ट कर लकड़ी से बना कर चमड़े से गुप्त कर युवक अथवा युवती के रूप का अति रमणीय रूप बना कर छिद्रगत शलाकाओं और सूतों के द्वारा प्रति अंग से विधि पूर्वक निवेश करे तो वह गर्दन का चलाना हाथ का फैलाना अथवा समेटना यन्त्र ही करता है और साथ ही साथ हाथ मिलाना पान देना जल से सींचना, प्रणाम आदि करना, शीशा देखना वीणा आदि वाद्य बजाना—यह सब यन्त्र ही करता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त गुणों के चक्र-वश से अपनी बुद्धि से विधि-पूर्वक जृम्भित होने पर इसी प्रकार के अन्य विस्मयावह कार्य करता है ॥१०१—१०५॥

द्वारपाल-यन्त्र —दारु से मनुष्य को यन्त्री का बना कर और उसको नगर द्वार के ऊपर रख कर, उस के हाथ में दण्डा दे देता द्वार में प्रवेश करने वालों का रास्ता रोकता है ॥१०६॥

याध-यन्त्र – खड्ग हस्त, मुदगर-हस्त अथवा कुन्त-हस्त (भाला लिये) वह दारु-वनप्त पुरुष रात्रि मे प्रवश करते हुए चारो को सम्वृत मुख होकर वल-पूर्वक मारता है ॥१०७॥

सग्राम यन्त्र –जो चाप आदि तोप आदि उष्ट्र-ग्रीवा आदि यन्त्र (तमच) किले की रक्षा के लिए और राजाओ क सेन के लिए जो क्रीडा आदि यन्त्र हैं वे सब गुणो क योग से सम्पादित हो जात हैं ॥१०८॥

वारि-यन्त्र —अब क्रम प्राप्त वारि-यन्त्र को कहता हू। क्रीडा के लिए और काय-सिद्धि क लिए उसकी चार प्रकार की गति होती है ॥१०९॥

ऊचे पर रक्खी हुई द्रोणी (कल) प्रदश से नीचे की तरफ जल जाता हैं उस को पात यन्त्र कहते हैं और वह वगीचे क लिए होता हैं ॥११०॥

दूसरा जल यन्त्र उच्छाय-समपात नामक कहा गया हैं जहा पर ऊँच से कल से पानी जलाधार गुण स नीचे की ओर छोडना है ॥१११॥

तीसरा वारि यन्त्र पात समुच्छ्राय के नाम स पुकारा जाता है जहा पर जल गिर कर ऊचाई म टेढ टेढे जाकर छेद वाले खम्भो क योग स ऊचे जाता है ॥११२॥

अब इस क बाद समुच्छ्राय नामक यन्त्र वह होता है जहा पर जल गिर कर ऊचाई म उछर टढे टेढे ऊच-ऊच छिद्रो दारु-खम्भो के योग से गिरता है ॥११३॥

उच्छ्राय-सज्ञा वाला पाचवा वारि यन्त्र वह कहलाता है जहा पर वापी मे अथवा कुवे म विधान-पूवक दीर्घिका आदि जो बनाई जाती है तो ऊच पानी लाया जाता है ॥११४॥

दारुमय-हस्ति —लकडी का हाथी बना कर जो पात्र म रक्खा हुआ पानी पीता है उसका माहात्म्य इस उच्छ्राय-नामक यन्त्र के समान कहा गया है ॥११५॥

जलसुरग-देश मे लाया जाता है नीच भाग मे दूर लाया हुआ वह अद्भुत जल-स्थान-समुच्छ्राय करता है ॥११६॥

पञ्च-धारा गृह —अब धारा-गृह का वणन करते है। ये पाच है—पहिला धारा गह दूसरा प्रवर्षण, तीसरा प्रणाल चौथा जलमग्न तथा पाचवा नन्द्यावत। प्राकृत जनो अर्थात साधारण जनता के लिए नही बनाने चाहियें। ये केवल राजाओ के लिय ही बनाने चाहियें। ये उन्ही के योग्य है। ये मगना के लिय सदा [illegible] तुष्टि और पुष्टि [illegible] होते है ॥११७ ११८॥

धारा-गृह—किसी जलाशय के निकट सुन्दर स्थान को चुन कर यन्त्र की ऊंचाई से दुगुनी अथवा तिगुनी नली बनावे। जल के निर्वाहक-क्षम यह नली अन्दर से बहुत चिकनी और बाहर से घनी होनी चाहिए और उस मे पानी भर कर शुभ मुहूर्त मे धारा-गृह का निर्माण करना चाहिए। सब औषधियो से युक्त और सोने से निर्मित पूर्ण कुम्भो से युक्त सुन्दर २ विचित्र २ गन्ध और मालाओ से युक्त वेद मन्त्रो के उच्चारण से निनादित रत्न निर्मित अथवा स्वर्ण-निर्मित अथवा रजत निर्मित अथवा कदाचित शीशम काष्ठ से निर्मित अथवा चन्दन से निर्मित अथवा सालक प्रधान प्रशस्त वृक्षो से निर्मित, सौ, बत्तिस अथवा सोलह सख्या वाले खम्भो से युक्त उस धारा गृह का निर्माण करे। अथवा २४ खम्भो से अथवा १२ खम्भो से अथवा अतिरमणीय चार खम्भो से ही भूषित उस धारा गृह का निर्माण करना चाहिए। धारा-गृह अति विचित्र ग्राग्रीवा वाली शालाओ और विविध जालो से विभूषित वल्दियो से खचित और कपोतालिया अर्थात कबूतर के अड्डो से सुन्दर बनाना चाहिये। वहा पर सुन्दर २ शालभञ्जिकायें कठपुतलिया दिखलाई पड रही हो। अनेक प्रकार के यन्त्र पक्षियो से शोभा मिल रही हो तथा बानरो के जोडो से अनेक प्रकार जम्भक-समूहो से विद्याधर, सिंह, भुजङ्ग, किन्नर और चारणो से रमणीय परम प्रवीण मयूरो से नाचते हुए सुन्दर प्रदेश चित्र विचित्र पारिजात-पादपो से शोभित और चित्र-विचित्र लताओ वल्लियो एव गुल्मो से सच्छन्न, नाविल-भ्रमरावली हसमाल (मराली) से मनोहर ऐसा चित्र विचित्र चित्रित धारा गृह बनावे ॥११९-१२८॥

सुश्लिष्ट और निविष्ट नलो के सम्पूर्ण स्रोत बहने वाले और मध्य मे छद सहित नालिका से युक्त नाना प्रकार के रूपो से रमणीय होना चाहिए। सुश्लिष्ट नालिका के अग्र प्रदेश मे खम्भो की तुला वाली दीवाल मे आश्रित प्रदेश मे वज्रलेपादि (सीमेन्ट आदि) खूब दृढ विलेपन करे। वज्रलेप बनाने का प्रकार यह है लाक्षारस (लाख), अर्जुन का रस और पत्थर मेष के सीगो का चूर्ण इन सबको मिलाकर सरसी और करजा के तेल से गाढा करे। सन्धियो की दृढता सम्पादन के लिए यह लेप दो तीन बार देना चाहिए परन्तु कदाचित अधिक मजबूती के लिए दो बार लेप करे और उस पर सन की वल्कल से लग्नातक (लभटा) और सिरया से तलो से प्रलेप करे। उच्छ्राय यन्त्र से चारो और घूमते हुए जल के द्वारा चित्र विचित्र जल-पात करता हुआ यह यन्त्र स्थपति राजा को दिखावे ॥१२९-१३३॥

इस मे हाथियो को जलक्रीडा करते हुए एक दूसरे की सूड से छोडे गय सीकरो (जलकणो) से बद हो गए है नयन जिन के ऐसे जोडो को दिखाना चाहिए ॥१३४॥

इस प्रेमास्पद यन्त्र मे वर्षा का अनुकरण करने वाला हाथी दूसरे हाथी को देख कर आख गण्ड-स्थल, मेहन और हाथो से मद के समान वर्षानुकृत जल को छोडता हुआ दिखलाना चाहिए। १३५।

वहा पर कोई ऐसी स्त्री बनावे जो अपने दोना स्तनो से दो जल धाराय निकाल रही हो और वही सजल बिन्दुओ को आनन्दाश्रु-कणा के समान अपनी पलको से निकाल रही हो ॥१३६॥

कोई स्त्री एसी दिखाई जाय जो अपनी नाभि रूपी नदी स धारा को निकाल रही हो और कोई अगुलियो की नखाग्रो के समान धाराओ से सिंचन कर रही हो। इस प्रकार के आश्चर्य-कारक स्वभाव चेष्टायें और बहुत से रमणीय क्षोभो का निर्माण कर के स्थपति राजा के लिए मनोरजन करे। ॥१३७-१३८॥

उसके मध्य म निर्मल स्वर्ण और मणियो से निर्मित सिंहासन बनाना चाहिए और उस पर नरपति अवनिपति श्रीपति देव (अर्थात राजा जी) बैठें ॥१ ६॥

कभी २ इस म उसको स्नान करावे और मगल-गीतो से अपने आनन्द को बढाता हुआ वादित्र और नाट्य निपुणो (गाने वालो बजाने वालो नकल करने वालो) से सेवित वह राजा साक्षात इन्द्र के समान आनन्द का भोग करे ॥१४०॥

जो राजा भीषण गर्मी मे स्फट जल-धारा वाले इस धारा गृह मे सुख पूर्वक बैठता है और विविध-प्रकार की जल-कारीगरी को देखता है वह मर्त्य नही बरन पृथ्वी पर निवास करने वाला साक्षात सुरपति इन्द्र है ॥१४१॥

प्रवर्षण —पहिले की तरह मघो के आठ कुलो (पुष्करावर्तकादि) से युक्त दूसरा जल घर बनावे। बरसती हुई धाराओ के निकरो (समूहो) के कारण इसका नाम प्रवर्षण पड़ा है ॥१४२॥

इस म मघो के प्रतिकुल मे दिव्य अलकार धारण करने वाले सुदृढ एव सुन्दर तीन चार अथवा सात विधि-पूर्वक पुरुषो का निर्माण करे ॥१४३॥

फिर चौथे समाच्छाद्य यन्त्र स उन टेढी नाली वाले उन पुरुषो को निर्मल जलो से पूरित करे ॥१४४॥

पुरुषा के सम्पूर्ण सलिल-प्रवेश वाले छदो को बद कर तदनतर उना जल निकालने वाले अगो को खोल दे ।।१४५।।

पुरुष-द्वार प्रतिरोध और मोचनो से टेढे नल से निकले हुए पानी आश्चर्य-कारक पात मे आश्चर्य कारक स्वेच्छापूर्वक जल को छोडते हैं। ।।१४६।।

इस प्रकार इन जल धारण करने वाले सब पुरुषो से अथवा दो से अथवा तीन से महान् आश्चर्य विधायक स्वच्छापूर्वक प्रवर्षण करावे ।।१४७।।

यह नाना आकार वाला रति-पति कामदेव का प्रथम कुल भवन विचित्र पदार्थों का निवास और मेघा का एक ही अनुकरण ग्रीष्म मे जल के पात मे सूर्य के ताप का शमन करने वाला किन लोगो के नयनो का आनन्द दायक नही होता (अर्थात सभी के लिए होता है) ।।१४८।।

प्रणाल —अब प्रणाल नामक जल घर का वर्णन किया जाता है। एक, चार अथवा आठ अथवा बारह अथवा सोलह खभो से दुतल्ला मनोहर घर बनावे। सब दीवालो से युक्त चौकोर चार भद्रो से युक्त ईली-तोरण-युक्त पुष्पकाकार इसे बनाना चाहिये। उसके ऊपर बीच मे एक सुदृढ प्रागण-वापी बनावे और उसके बीच मे कमलो से सुशोभित कर्णिका का निर्माण करे और उसके चारो कोना पर वापी के मध्य भाग मे खिले हुए कमल पर लगाते हुए आखो वाली, अलकार धारण किये और विभिन्न शृगार किये रमणीय दारु-दारिकाओ का निर्माण करना चाहिये ।।१४९-१५२।।

पूर्वोक्त यन्त्र के क्रम से पद्मासन पर राजा के बैठने पर फिर घडो से निर्मल जल से आँगन की वापी को भरे और फिर उस वापी को भर कर फिर उस जल को उसके निकट पट्ट गर्भो में ले जाया जाय। पुन उस मे सुगन्धि की योजना करें। मुख के कपडे से समुत्कीर्ण रूप वाले चित्र विचित्र नासिका, मुख, कान, नेत्र, आदि अखिल अगो से जल छोडा जाता है। प्रणाल-नाम का यह अद्भुत धारा-भवन जिस राजा के प्र गण प्रदेश मे स्थित होता है अथवा जो स्थपति अपनी चतुर बुद्धि से इसका निर्माण करता है, वे दोनो ही (राजा और राज) ससार मे बडे यशस्वी होते है।।१५३-१५६।

जलमग्न — चौकोर, बहुत गहरी, सुदृढ, मनोरम वापी बनावे फिर उसका घर जमीन के नीचे, सन्धियो को लिप्त करके, निर्माण करे। सुरग मे निर्गम द्वार से सुन्दर पुरुषो के द्वारा ऊपर जल लाया जावे ।।१५७-१५८।।

चित्राध्याय म वर्णित क्रम से फिर चित्र से अलकृत इसका मध्य भाग वरुण वास के समान बनावे ॥१५९॥

उस कपट के नाल से उत्पन्न उन नल वाले ऊपर टिके हुए कमलो मे सछिद्र कणिका-स्थित सूय किरणो के द्वारा विकास कराया जाय ॥१६०॥

निमल कमलो तक गिरते हुए जल से उसे पूरा किया जाय और इसी विधि से ठीक तरह से सुदर भवन का निर्माण करके नाना सजावट से युक्त आगन का तोरण-द्वार बनावे और चारो दिशाओ मे लम्बी चौडी शालाये बना कर शोभा करे। बनावटी मछली, मगर और, जल पक्षियो से युक्त और कमलो से युक्त उस वापी को इस तरह से बनावे कि मानो य सब जीव जन्तु एव पक्षी सच्चे ही हो ॥१६१—१६३॥

सामन्त लोग प्रधान पुरुष राजा की आज्ञा प्राप्त कर आश्रय लेने वाले दूसरे रास्तो से आये हुए दूत यहा पर एकान्त म बैठे ॥१६४॥

तदनन्तर पूर्वोक्त माग से निरूपित विभिन्न रूपो की जल क्रीडा को देख कर मुदित नृपति पयकारोहण करे ॥१६५॥

वहा पर जल भवन म वारागनाओ से चारो तरफ घिरे हुए राजा का पाताल-गृह मे जिस प्रकार भुजगेश्वर शेष-नाग का प्रमोद होता है उसी के समान उसका अत्यधिक आनन्द वाला प्रमोद होता है ॥१६६॥

नन्द्यावर्त —पूर्वोक्त वापिका मे मध्य भाग मे चार खम्भो से निर्मित मोती-मूगो से युक्त पुष्प और लटभ का निर्माण करे। वापी के चारो ओर खूब निकलते हुए पानी से सुदृढ पुष्पक को भर कर अन्दर स्वस्तिक दीवालो से चारो ओर शोभा करावे। पूर्वोक्त जल-योग से कान तक पानी भरा कर जल क्रीडा के लिये उत्कण्ठित राजा पुष्पक पर जाए और फिर वहा पर विदूषको और वार विलासिनियो के साथ उस दीवाल के अन्दर होकर जल मे डूबने और निकलने की क्रीडा करे ॥१६७—१७०॥

एक जगह डूबते हुए, दूसरी जगह पानी से मार कर नष्ट होते हुए केलि करने वाले सहायको के साथ राजा खूब खेलता है और आनन्द लेता है ॥१७१॥

वापी-तट मे स्थित, लज्जा से झुके हुए कर-पल्लव से अपने स्तन-भाग को ढके हुए शरीर से गाढावसक्त वस्त्र वाली जलरोघ को छोडने वाली ऐसी प्रणयिनी को जो आदमी देखता है वह धन्य है ॥१७२॥

दोला-यन्त्र —जो पाचवा बीज-सयागात्मक यन्त्र-भ्रमणक-कर्म कीर्तित किया गया है अब दारु-निर्मित उस रथ-दोला आदि के विधान को ठीक तरह से कहना हूं। उनमे वसन्त मदन-निवास वसन्त तिलक, विभ्रमक तथा त्रिपुर नाम वाले ये पाच झूले कहे गए हैं ॥१७३—१७४॥

वसन्त —ऋजु सुदृढ एव सूत्र वाले चार खम्भा को खचित करे भूमि वश उसके अवकाश बराबर हो और सुश्लिष्ट तथा पीठगत हो। प्रासाद की उक्त दिशा मे अर्थात प्रकार मे आठ हस्तो से उस का दैर्घ्य सम्पादन करे और उसके भाग मे गहरा रमणीय भूमि गह बनावे ॥१७५—१७६॥

उस के गर्भ मे भ्रम-सहित पीठ सहित और छादक तुलाओ से ग्रस्त लोहे का खम्भा स्थापित करे ॥१७७॥

पीठ के ऊपर खूब मजबूत विभक्त कुम्भिका स्थापित कर, फिर उस का धनुष की ऊंचाई से आठ भद्रो से घेरे। इसके उपरान्त इसके ऊर्ध्व भाग मे ऋजु स्वेच्छा पूर्वक भूमिका की ऊंचाई बनावे और वेष्टन के ऊपर पट्टयुत स्तम्भ-शीष रक्खे। हीर-ग्रहण तक मदला गज-शीर्षिका बनानी चाहिए। वह खूब मजबूत हो, प्रयत्न से बनाई गई हो और मनोज्ञ हो ॥१७८—१८०॥

पट्ट के ऊपर अभीम क्षत्र के मान (प्रमाण) से सघिया (चतुष्किका) बनावे और उसके ऊपर मजबूत तल-बन्ध निर्माण करे ॥१८१॥

तदुपरान्त क्षेत्र मे युक्ति से उठाए हुए सुन्दर बारह खम्भो से रूपवती-कोणस्थिति से अधिक पहली भूमि बनावे ॥१८२॥

उस के मध्य मे गर्भ-स्तम्भ-प्रतिष्ठित भ्रम की रचना करे और पश्चात् क्षेत्र मान मे उसको वस्त्रो मे ढक दे ॥१८३॥

रथिका के शिखा के अग्र-भागों म फलकावरण के ऊपर स्तम्भ के मध्य पाच भ्रम-चक्रो का न्यास करे ॥१८४॥

इस के ऊपर पुष्पक की आकृति की सुशोभित भूमि का निर्माण करे, उस आधार मध्य का स्तम्भ होता है और उस के सिर पर बनाय हुए कलश सशोभित होते ह। खम्भ के नीचे घुमाए जाने पर अध भूमिका उसमें खूब घूमती है। वह मधेभमिक्......न से ऊपर ऊपर रथिका-नभर से युक्त हो कर घूमती है ॥१८५—१८६॥

इस प्रकार वसन्त ......रथिका-भ्रम नामक झूले मे बैठा हुई वार-विलासिनियो क परिभ्रमण से उ......पन अधिक विभ्रम वाला नयनोत्सव जा

स्वर्ग मे कहा गया है, वैसा ही वसन्त के समय प्रमल कीर्तिव ना यह धाम राजा के लिये होता है । १८७ ।

मदन निवास —इसके बाद बिना नीव के एक स्थिर स्तम्भ का आरोपण कर फिर इसके ऊपर चार हाथ ऊची भूमिका बनावे ॥१८८॥

मध्य मे भ्रमरक-युक्त बनावे और शेष पहले के समान यहा पर भी निवेश करे और स्तम्भ मे पप्पक को भी कलश से ऊचा और शिथिल न्यास कर। उस के ऊपर चार आसनो मे युक्त ग्रीवा का निर्माण कर और फिर वहा पर बडे बडे दो घण्टा स्तम्भा का निर्माण करे ॥१८६–१६०॥

इस प्रकार पुष्पक भूमिकाओ के भीतर बैठा हुआ गुप्त जन नव तक भ्रामक यन्त्र-चक्र-समूह का क्रमण चलाव जब तक रथिका पर बैठी हुयी मगनयनिया पुष्पक म सब की सब काम-वासना के कौतूहल से अर्पित आगो वाली घुमाई जान लग ॥१६१॥

वसन्त-तिलक —इस के बाद अब चार कानो पर ऋजु एव सुदृढ चार खम्भो को निवशित करे और भूमि के अनुसार बराबर अतर पर पृष्ठ-भूमि पर उन्हे स्थापित करे। उनके ऊपर तलान्तर सयुक्त भूमिका बनानी चाहिए और प्रत्येक दिशा मे स्थापित पहले की तरह वहा पर चार रथिकायें बनाई जाती हैं। उस के ऊपर सुश्लिष्ट दार-सघानित अध-भूमि का निर्माण करना चाहिए। उस का मध्य भाग भ्रमरक-युक्त और मत्तवारण-युक्त एव रूपको युक्त होना चाहिए ॥१६२–१६४॥

परस्पर यन्त्र के परिवट्टन से चलायमान अखिल चक्रा की रथिकाओ के भ्रमण से सुन्दर इस वसन्त तिलक झूले को देख कर सुर मन्दिरो क भषायमान कौन विस्मय को प्राप्त नही होता ॥१६५॥

विभ्रमक –पहली रगभूमि बना कर चौकोर चार भद्रा वाली रूपवती भूमि का निर्माण करे ॥१६६॥

इस के भद्रो से प्रत्येक कान पर भ्रमर-सयुत होते है और भूमि के ऊपर आठ आसन वाले भ्रमरा का निर्माण करे ॥१६७॥

बाहर भीतर और बहुत सी चित्र-विचित्र शुद्ध रेखाओ का खचित करे। फिर पीठो म मध्य भाग म स्थित दूसरी भूमिकाओ का निर्माण करे ॥१६८॥

पीठ के मध्य भाग म स्थित परस्पर निबद्ध योजित चक्रा से सब भ्रमर

शीघ्रता से घूमने लगते हैं। स्वर्ग में बैठने के समान झूले पर बैठा हुआ वह राजा वारि-विलासिनियों के द्वारा सम्भृत चित्र-विचित्र विभ्रम से जोहप को प्राप्त करता है तथा उसकी कीर्ति तीनों लोकों में समुल्लसित होती हुई समाती नहीं है ॥१९९—२००॥

त्रिपुर —अब क्षेत्र को चौकोर बना कर आठ अंशों से विभाजित कर शेष कोणों के द्वारा चौकोर भद्र का कल्पन करे ॥२०१॥

उस से दुगुनी भूमिकाओं की भाग-संख्या से इसका ऊर्ध्व-भाग निर्मित करे। वहां पर भूमिका की ऊंचाई चार अंश की हो। २०२।

वहां पर आठ, छ चार भागों से वर्जित ऊपर २ भूमिकायें क्रमशः होती हैं और उन में से तीन अग्र-संयुत होती है। शेषांश से उच्छ्राय-युक्ता चतुरस्रायता घण्टा बनानी चाहिए। तीसरी और चौथी भूमि का निर्माण ६ और ४ भागों के विस्तार से करना चाहिए। प्रथम भूमि में रंग, दूसरी भूमि में कोनों में रथिकायें और वहां पर भद्रों की आकृति से युक्त रमणीय दोला भी हो ॥ २०३—२०५ ॥

तीसरी भूमि में भद्रों में अतिरमणीय रथिकायें बनानी चाहिए। कोनों में आसन और अन्य अग्र-वास्तुक में भी भ्रम का न्यास करे ॥२०६॥

चार आसन वाले दारा-रथिक में आठ आसन वाला भ्रम होता है। आसन से यहां पर अभिप्राय है कि वह युवती का एक स्थान होवे। २०७।

जो सब आसन भ्रमण सम्मुख घूमते हैं वे सारे के सारे आसन एक प्रकार से भ्रम ही हैं ॥२०८॥

यष्टि के ऊर्ध्व भाग में भ्रम के नीचे एक चक्र को योजित करे और उसी प्रकार यहां पर आसनों में लघु चक्रों का नियोजन करे ॥२०९॥

लघु चक्राकार वृत्त में (चौकोर गोले में) कीला को लगाना चाहिए और वह समान अन्तर पर सभी छोटे चक्र के वृत्त दिखाई पड़ने चाहिए ॥२१०॥

रथिका का ऊपर का चक्र भ्रम-चक्र से विनियोजित करे और इस में दो चक्रों से युक्त चार यष्टियां ठढी २ लगावे ॥२११॥

रथिका-यष्टि-भ्रम में संलग्न यन्त्रों को द्वितीय भूमि के ऊपर और तृतीय भूमि के अन्तर में करना चाहिए ॥२१२॥

आसन की आधार-यष्टियों के नीचे समान अन्तर पर रथिका-चक्रों से योजित चार परिवर्तकों का निर्माण करे ॥२१ ॥

उसी प्रकार द्वितीय भूमि दोला-गर्भ मे दो समानान्तर यष्टियो का निर्माण करना चाहिए जिस मे एक २ पहिया लगा हो और इनका दक्षिण और उत्तर के चक्रो मे न्यास करे। इसी प्रकार नीचे भू-कोण तक जाने वाली रथिका-समूह के अग्र चक्र मे लगी हुई दो दो पहियो वाली चार यष्टियो का दूसरी दिशाओ के चक्रो में न्यास करे। प्रान्त के दोनो चक्रो में कोनो की रथिका-चक्र मे योजित दोला के गर्भ में जाने वाली दूसरी दो यष्टिया तिरछी बनानी चाहिए। पूर्व-भद्र में सोपानो से शोभित द्वार-निर्माण करे और नीचे गर्भ के पश्चिम भाग में देवता-दोला का निवेश करे ॥२१४–२१७॥

इच्छानुसार छोडा जाने वाला चक्र भ्रम विधान पूर्वक ठीक तरह से जानकर शीघ्र चलने वाला अथवा मन्द चलने वाला प्रयोजित करे ॥२१८॥

सक्षेप से जहा तक हो सका हमने इस प्रकार से भ्रम-मार्ग कीर्तित किया। दूसरो में उसी तरह भ्रम-हेतु के लिए ठीक तरह से करना चाहिए ॥२१९॥

दृढ और चिकने स्तम्भ-आदि द्रव्यो के विन्यासो मे कल्पित सुश्लिष्ट सन्धि-बन्ध वाला बडे मुख्य स्तम्भो से धारण किया गया, तिलको से परिवारित और चारो तरफ सिंहकर्णों से युक्त अपने चित्रो से विचित्र रूप वाला त्रिपुर नाम का दोला ठीक तरह से बनावे ॥२२०-२२१॥

बुद्धि से निर्मित और पूर्व यन्त्रो से युक्त जो मनुष्य इस यन्त्राध्याय को ठीक तरह से जानता है, वह वाञ्छित मनोरथो को ठीक तरह से प्राप्त करता है और प्रतिदिन राजाओ के द्वारा पूजित होता है ॥२२२॥

जिस राजा के भुज-स्तम्भो से प्रतिबद्ध (रोकी गयी) वृत्ति वाला यह सम्पूर्ण द्वादश राज-मण्डल इच्छा से घूमता है वह श्रीमान भुवन मे एक ही राम नाम के राजा ने इस यन्त्राध्याय को अपनी बुद्धि से रचित यन्त्र प्रपचो के साथ बनाया है ॥२२३॥

पंचम पटल

चित्र-लक्षण

१ चित्रोद्देश

२ चित्र-भूमि बन्धन (Background)

३ चित्र कर्माङ्ग—लेप्यादि-क्रम

४ चित्र-प्रमाण —

(अ) अण्डक वतन

(ब) मानादि

५ चित्र-रस तथा चित्र-दृष्टियां

अथ चित्रोद्देश-लक्षण

अब इसके बाद हम लोग चित्र-कर्म का प्रपच करते है क्याकि चित्र ही सब शिल्पो का प्रधान अग तथा लोक प्रिय-कम है ।।१।।

चित्रोद्देश —पट्ट पर अथवा पट पर अथवा कुड्य (दीवाल) पर चित्र-कर्म का जैसा सम्भव है और जिस प्रकार की वर्तिया, कृत बध और लेखा-मान होते है वर्णा का जैसा व्यतिक्रम जैसा वर्तना—क्रम मान उन्मान की विधि तथा नव-स्थान-विधि, हस्ता का विन्यास—उन सबका प्रतिपादन किया जाता है। स्वर्गियो का देवादिको का मनुष्या का तथा दिव्य मानुष ज मा व्यक्तियो का गण, राक्षस, किन्नर कुब्ज, वामन एव स्त्रिया का विकल्प आकृति-मान और रूप सस्थान वृक्ष गुल्म, लता वल्ली, वीरुध पाप कर्मा व्यक्ति, शूर दुर्विदग्ध धनी राजा, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रजाति क्रूर-कर्मा मानी रगोपजीवी-इन सब का वर्णन किया जाता है। सतिया का, राज-पत्नियो का रूप, लक्षण वेष-भूषा (नैपथ्य) दासिया सन्यासिनियो राडो भिक्षुणियो आदि अथच हाथियो घोडा मकर, व्याल सिंह तथा द्विजा का भी वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार रात दिन का विभाग और ऋतुओ का भी लक्षण तथा याज्यायोज्य-व्यवस्था का भी प्रतिपादन आवश्यक है। देवो का प्रविभाग और रेखाओ का भी लक्षण, पाच भूता का लक्षण और उनका आरम्भ भी बताया जायेगा। वृक आदि हिंसक जन्तुओ, पक्षियो और सब जल-वासियो के चित्रन्यास-विधान का अब लक्षण कहता हू ।।२—१२।।

चित्राङ्ग —जिसे चित्र-कम म वर्ना जाता है उसके सब अगो का सविस्तार वर्णन किया जाता है। पहला अग वर्तिका दूसरा भूमि-बन्धन, तीसरा लेख्य, चौथा रेखा-कम, पाचवा वर्ण-कम, छठा वर्तना-क्रम, सातवा लेखन और आठवा रसावतन ।।१३—१५।।

चित्र कम का यह सग्रह जो क्रमश सूत्रित करता है वह कभी मोह को नही प्राप्त होता है और वह कुशल चित्रकार होता है ।।१६।।

अथ भूमिबन्धन-लक्षण

अत्र वर्तिका का लक्षण और भूमि-बन्धन का लक्षण वर्णन किया जाता है ॥१॥

गुल्मों के भीतर में शुभ क्षेत्र में पद्मिनी में, नदी के तट पर, पर्वतों के वक्षों में, वापिका और वनों के अन्तर में और वक्षों के मूलों में जहां पर भौम लवण पिण्ड हों इन क्षेत्रों में जो मत्तिका स्थिर, सुश्लिष्ठ (चिकनी) पाण्डर तथा शर्करामयी होने पर मृदु एवं चित्र बन्धोपयोगिनी हो इस प्रकार क्षेत्रानुसार मत्तिका शुभ बताई गई है। उसको कूट कर पीसे फिर करक बनावे। भात का अर्थात् शालिभक्त का पूर्वोक्त भाग वहां पर देना चाहिये। ग्रीष्म-ऋतु में सातवां भाग शीतकाल में पाचवां शरद् में छठा और वर्षा में चौथा भाग ग्रहण करे। वर्तिका-बन्धन के लिये इस प्रकार की मत्तिकायें दृढता को प्राप्त होती है। पुनः करक-बन्धन में पूर्ण कौशल की अपेक्षा होती है। रेखा वर्तन में—शिक्षा-काल में वर्तिका दो अंगुल के प्रमाण से बनाई जाती है। कुछ रेखाओं में वर्तिकायें तीन अंगुल की बताई गई हैं। जहां तक पट-चित्र में रेखाओं का प्रश्न है उन में चार अंगुल के प्रमाण से करना चाहिये ॥१-६२॥

भूमि-बन्धन —अब भूमि-बन्धन-क्रिया का वर्णन करूंगा। भूमि-बन्धन अर्थात् pictorial back ground में विशेष कर जो आवश्यक एवं अनिवार्य सामग्री होती है उसी से भूमि-बन्ध किया जाता है। पूर्ण नक्षत्र-वारों में और भाग्य दिवसों में वास करके कर्ता, भर्ता और शिक्षक नाना वर्ण के सुगन्धित कुसुमों से और सुगन्धित धूपों से पूजन करके उसका आरम्भ करें। सर्व-प्रथम मान उन्मान-प्रमाण के अनुरूप भूमि आदि सब सामग्री का निक्षेप एवं साधन जुटाकर पहले भूमि का विधान करे पुनः सम्यक् आलोचन करके बुद्धिमान को फिर इस भूमि-क्रिया का आलोचन करके पश्चात् बन्धन-विधान करना चाहिये। करक के आचरण में गेहूं के तण्डुल के सदश अथवा तादृश मृत्तिका पीसकर कल्क बनाना चाहिये। फिर उसका पिण्ड बनाकर उसको धूप में सुखाना चाहिये। सुखाने के साथ साथ उसे क्षपण भी करे तथा गोला भी बनाता रहे। इस प्रकार

से चारो कोनो मे इसे सात दिन तक घिसना चाहिये फिर हाथ से उसे मलना चाहिये जिससे यह भौम लवण स्निग्ध हो जावे । अथवा निम्निका-भूमि पर खर-बन्धन का निर्माण करना चाहिये। तथा पूर्वोक्त कल्क के निर्याम में बन्धन को फेंकना चाहिये। ग्रीष्म काल मे पाच भाग मे प्रशस्त कहा गया है शरद मे २½ अशो से विधान है। अथच वर्षा-काल म एक भाग के प्रमाण से देना चाहिये यह निश्चित क्रम है। पाचो भाग के प्रमाण स ग्रीष्म म विधान है। पूर्वोक्त विधान से भूमि मे बन्धन करना चाहिये। और रोमकूच (बुरुश) मे सूखी सूखी का क्रमश लेप करना चाहिये । इस प्रकार विचक्षणो को जल से हस्त लाघव देना चाहिये। इस प्रकार से बनाया गया निम्निका-भूमि बधन श्रेष्ठ कहलाता है ॥६१—२३॥

कुड्य-भूमि-बन्धन—अब कुड्य-भूमि के बन्धन का यथावत वर्णन करते हैं। स्नुही-वास्तुक कूष्माण्ड कुद्दाली—इन वस्तुओं को लाए, अपामार्ग अथवा गन्ने के रस में अथवा दुग्ध मे उनको सात रात तक रक्खे। शिशपा सन और निम्बा तथा त्रिफला और बहेडा इन का यथालाभ समान समान भाग लेकर और कुटज का कषाय क्षार-युक्त सामुद्रिक नमक से पहले कुड्य (दीवाल) को बराबर बनाकर फिर इन कषायो म सीचे। फिर स्थल पाषाण वर्जित चिकनी मिट्टी लाकर दुगना व्यास करके, वालका-मदा (बालुकामयी मिट्टी) का क्षोदन करना चाहिये । फिर ककुभ माष (उडद) शाल्मली श्रीफल इनका रस कालानुसार देना चाहिये। पूर्वकालानुसार मे जिस प्रकार का भूमि बधन बताया गया है उसी प्रकार का सब बालू से एकत्र करके पहले हाथी के चमडे की मोटाई के बराबर दीवाल को लेपे। पुन उसे दर्पण सदृश चिकना एव प्रस्फटित कर देवे। विशुद्ध, विमल स्निग्ध पाडुर मृदुल स्फट- प्रथम प्रतिपादित कट-शर्करा (भुरभुरी मिट्टी) को विधि-पूर्वक कूट कर और घिसकर कल्क बनाना चाहिये और पूर्वोक्त प्रकार से भक्त-भाग का लेपन और निर्यास करना चाहिए अथवा उसे कटशर्करा के साथ देना चाहिये। इस प्रकार विचक्षण लोग कुड्य का लेपन करते हैं। हल से हस्त-मात्र लेपन कर कट शर्करा देनी चाहिये । इस विधि से कुड्य बधन उत्तम सम्पन्न होता है ।२४—३५॥

पट्ट भूमि बंधन —अब इस समय पट्ट भूमि का निबंधन बताया जाता। नीम के बीजो को इकट्ठा करके उनके मल को त्याग कर इस प्रकार से उनका छिलका निकाल कर अथवा शालि तंडुलो को इन दोनो म म एक को लेकर बर्तन मे पकावे। बधन से पट्ट का लेपकर पूर्वोक्त विधान समाचरण करे।

पूर्वोक्त प्रकार से वटशकरा को निर्यामित करके फिर पानी से पट्ट को भिगोकर पट्ट का आलेखन करे। इस विधि से चित्र-कर्म मे बधा प्रशस्त होता है अथवा दूसरी विधि स पट्ट भूमि-बन्धन करना चाहिये। तालादि-पत्रो के निर्यास समुचित बनाकर तदनन्तर निर्यासयुत वटशर्करा तीन बार देना चाहिये। इस प्रकार से यह पट्ट-भूमि-ब धन विशेष-रूप से प्रयत्न पूवक बनावें।

पट-भूमि बन्धन —जैसा पट्ट-भूमि बन्धन मे गोमय आदि निर्यास का विधान है उसी प्रकार पट-भमि-बन्धन भी विहित हैं

"यथा पट्ट तथैव स्यात् भमि ब ध पटेऽपि स ।

इस प्रकार से हमने चित्राङ्ग विशेष—वर्तिका एव भूमि-बन्धन क सब साधनो एव साध्यो का लक्षण-पुरस्सर वर्णन किया। जो शिल्पी इस चित्र-निया म कौशल से कम करता है वह विधाता की इस सृष्टि मे बडी कीर्ति पाता है ॥३६—४३॥

लेप्यकर्मादिक-लक्षण

मृत्तिका और लेखा के लक्षण के साथ अब लेप्य-कर्म का वर्णन किया जाता है ॥ ½ ॥

वापी कूप, तडाग पद्मिनी, दीर्घिका वृक्ष-मूल नदी-तीर और उसी प्रकार गुल्म-मध्य—ये तत्वपूर्वक मृत्तिकाओं के क्षेत्र बताये गये है ॥½—२॥

उक्त मट्टियों के रंग विभिन्न प्रकार के होते हैं —सित (सफेद) क्षौद्र-सदृश गौर और कपिल ये चिकनी मिट्टिया ब्राह्मण आदि वर्णों में क्रमश प्रशस्त मानी जाती हैं ॥ ३ ॥

यथाशास्त्रानुकूल स्थूलपाषाण-वर्जिता मनिका लेनी चाहिये ।

शाल्मली (सेमल) माष (उड़द) ककुभ मधूक (महुआ तथा त्रिफला इन वृक्षो का रस उस मिट्टी पर डाल कर और बालू को भी मिला कर घोडे के सटा-लोम अथवा गौओं के रोम या नारियल का बकला देना चाहिये और मिट्टी में मिल कर फेंटना चाहिए अथवा उससे दूनी भूमी मिलानी चाहिये और जितनी बालुका हो उतनी ही मिट्टी मिलानी चाहिए। मिट्टी में कपास के दो भाग मिलाने चाहिएँ। इन सब को एकत्रित करके तीसरा मिट्टी का भाग ऊपर फेंकना चाहिए। तदनन्तर पूर्वोक्त कर्म करा कर रखकर कल्क बनाना चाहिए और उसे कपडे से ढक दना चाहिए।

लेप्य कर्म मत्तिका-निर्णय के लिये शिल्प-कौशल के साथ साथ आवश्यक विधान भी अनिवार्य है। वृक्ष से कट शर्करा का निम्मन मनिका-क्वाथादि अन्य उपादान भी मानादि के साथ २ भी उपादय हैं

शास्त्र प्रतिकूलाचरण से कर्ता का नाश भी प्राप्त होता है ॥४—१२½॥

अब लेखा का लक्षण ठीक तरह से बताया जाता है। पहला कूर्च अथवा कूचक दूसरा हस्त कूचक तीसरा भास-कूचक चौथा वल्ल कूचक, पाचवा वर्तना-कूचक ये पाँच प्रकार के कूचक (ब्रुश) बताये गए हैं।

बैल के कान के रोमो से बना हुआ कूचक बुद्धिमान मनुष्य को धारण करना चाहिए।

अथवा उसे वल्कलो से अथवा खरकेशाग्र से बनाना चाहिए। कूर्चक सिद्ध-हस्त के द्वारा जो बनाया जाता है वह प्रशस्त होता है।

तन्तु स कूचक विलेखा-कम में श्रेष्ठ होता है। पहला वट-वक्ष के अकुर के आकार वाला और दूसरा पीपल वक्ष के अकुर के आकार वाला और तीसरा प्लक्ष के अकुर के आकार वाला, पुन चौथा उदुम्बर (गूलर) वक्ष के अकुर के आकार वाला बताया गया है। वटाकुर सदृश आदि कूचक से मोटी लेखा नही बनाना चाहिए और प्लक्ष के अकुर के समान छोटी लखा नही होनी चाहिए। पीपल के अकुर के समान जहा पर विद्वान लोग लखा करते हैं वहा गूलर (उदुम्बर) के अकुर के आकार वाला कूचक लप्य-कर्म मे प्रशस्त माना जाता है। बास का कूचक भी चित्र-कम मे प्रशस्त माना गया है। कूचक के दण्ड म वास्तव मे वेणु (बास) की ही लकडी विशेष श्रेष्ठ मानी गयी है ॥१२½—२२½॥

लेप्य-कम सक्षेप से बताया गया। पुन मिट्टी की सस्कार-विधि बताई गई। अथच यहा पर ठीक तरह से विलखनी और कूचक की पाच प्रकार की रचना सम्यक् प्रकार से वर्णन की गई है ॥२३॥

अथाण्डक-प्रमाण-लक्षण

अब प्रक्रम-प्राप्त अण्डक-वतना का वर्णन किया जाता है तथा जातिभाव आदि मे सम्पादन का प्रमाण भी वर्णित किया जाता है । १॥

टि० द्वितीय श्लोक त्रुटित है अत अननूद्य ।

शास्त्रानुकूल प्रमाण से गोल का प्रमाण उत्तम बताया गया है । उसी के अनुसार मान और उन्मान बनाना चाहिय ॥२—३॥

मुखाण्डक अर्थात प्रधान अण्डक का विस्तार छ भाग समित विहित है और दो भाग समित लम्बाई विहित है। सात गोल बनाने चाहिय और इसी प्रकार से बाकी का संस्थान इस प्रधान अण्डक के निर्माण से चित्र-कम मे उत्तम बताया गया है । तीन कोटि का वत्त आलखन करके और अण्डक क्रमश बनाने चाहियें । नाना विध अण्डको का निमाण चित्र कम मे आवश्यक है । अण्डक का अर्थ है खाकामा । बिना पहिले सोच-विचार के चित्र-न्यास असंभव है । आधे गोले के आयाम से अलसाण्डक बनाया गया है और दो गोल की मोटाई से हास्य ण्डक होना है । पुरुषाण्डक का मान छै गोलो से आयाम और पाच गोलो से विस्तत होता है । वनिताण्डक नारियल के फल-सदृश आलेख्य होता है । उसका विस्तार चार गोलो से और लम्बाई पाच गोलो से होनी है । शिशुओ का अण्डक चित्र-कम मे निश्चय ही करना चाहिय। हास्याण्डक भी उसी प्रकार अनिवार्य है । इसी प्रकार से आलस्याण्डक तथा रोदनाण्डक करना चाहिये । हास्याण्डक भी शास्त्रानुकूल विनिर्मेय है । दवाण्डक प्रमाण आलस्य के समान बताया गया है। वह छ गोलो के विस्तार से और आठ गोलो की लम्बाई से सम्पन्न होना है । वृत्तायत सम,लेख्य दिव्याण्डक बताया गया है ॥४-१३॥

अब दिव्य और मानव अण्डको का लक्षण कहता हू । आधे गोले से अधिक मानुषाण्डक के प्रमाण से उसे बनाना चाहिय । पाच गोलो से विस्तीर्ण और छै गोलो से आयत मुखाण्डक को मानुष रूप बनाकर उस पूर्ण बनाया जाता है । शिशुकाण्डक-प्रमाण से प्रमथो का मुखाण्डक होता है। राक्षसाण्डक-प्रमाण से यातुधानाण्डक होता है । दैत्य के मुख-सदृश दानवाण्डक बनाना चाहिय और

उसी के समान गन्धर्वों, नागो और यक्षो के अण्डक होते हैं। विद्याधरा का दिव्य-मानुष-अण्डक समझना चाहिये ।१४—१८½॥

कोई लोग शास्त्र जानते हैं, कोई लोग कर्म करते हैं। जो इन दोनों चीजो (शास्त्रार्थ ज्ञान और कर्म कौशल) को करामलकवत् नहीं जानते हैं पुनः व शास्त्रज्ञ होकर भी कर्म को नहीं जानते और कर्मज्ञ होने पर शास्त्र को नहीं जानते और जो दोनो को जानते हैं वे ही श्रेष्ठ चित्रकार कहलाते हैं ॥१८½-२०½॥

टि० इस अध्याय में कुछ विगलन प्रतीत होता है जैसा हमने मूल में अपने परिमार्जित संस्करण में निर्दिष्ट किया है।

चित्रकर्म-मानोत्पत्ति-लक्षण

चित्र-कम मानोत्पत्तिलक्षण —अब परमाणु आदि जो मान-गणना होती है उसका वर्णन करता हू ॥१॥

परमाणु रज रोम लिक्षा यूका, यव अगुल क्रमश अठगुणी वृद्धि से इस प्रकार से मान का अगुल होता है—अर्थात ८ परमाणु का रज ८ रज का रोम ८ रोम की लिक्षा ८ लिक्षा की यूका ८ यूका का यव और ८ यव का अगुल होता है। दो अगुल वाला गोलक समझना चाहिये। अथवा उसका कला कहा जाता है। दो कलाओं अथवा दो गोलकों किसी इन दोनों म से उस प्रमाण एव भाग तथा उसी प्रमाण से एव आयाम से विस्तार का न तो कम न ज्यादा चित्र-निर्माण करना चाहिये ॥२-४½॥

देवता आदि के शरीर, विस्तार से आठ भाग वाले होते हैं और उनका यह शरीर चित्र-शास्त्रियो को तीस भाग की लबाई से बनाना चाहिये। असुरो का शरीर तो साढे सात भागो से विस्तृत और उन्तीस भाग से लबा बनाना इष्ट बताया गया है। राक्षसो का शरीर सात भाग से विस्तृत और सत्ताईस भाग से आयत होना है और दिव्य मानुष के शरीर तो शास्त्रानुकूल विहित हैं। छ भाग मे विस्तृत मनुष्यो का करना चाहिये और उनकी लबाई साढे चौबीस भागों स बन ना चाहिये। यह मान हमने उत्तम पुरुष का बताया है। मध्यम पुरुष का तो विस्तार साढे पाच भाग का होता है और उसका आयाम तो २३ भागो का बताया गया है और कनिष्ठ शरीरो का विस्तार पाच भाग के प्रमाण का होता है और इस शरीर का आयाम बाईस भागो का प्रशस्त माना गया है। कुब्जो (कुबडो) के शरीर का विस्तार पाच भाग मे और दैर्घ्य चौदह भागो से बनाना चाहिये। ये य विकल्प-प्रमाण जैसे वामनादि अर्थात् बौनो के भी शास्त्रानुसार विनिर्देश हैं। किन्नरो का भी यही प्रमाण बताया गया है। प्रमथो के शरीर का विस्तार तो चार अशो मे बताया गया है और लबाई छ अशो में। यह प्रलग २ हमने देह के प्रमाण को भाग-सूत्र बताया। देवो का वसुओ का

और उसी प्रकार राक्षसो का, दिव्य-मानुषो का, मर्त्यों का तथा कुब्जो और वामनो, इन दोनो का भी और भूतो सहित किन्नरो का क्रमश इसमे उदाहरण दिया गया ।।४½—१७½।।

टि० यहा पर भण्डक-वर्तन अथवा उसका विलेखन-क्रम आपतित सा प्रतीत होता है ।

अब मानोत्पत्ति का यथावत वर्णन करता हू। देवो के तीन रूप होते हैं। मुरज, (?) तथा कुम्मक, दिव्य-मानुष का एक दिव्य-मानुष शरीर, असुरो के तीन रूप—चक्र, उत्तीणक और दुर्दर तथा राक्षसो के फिर दो—शकट और कूर्म। मनुष्यो के पाच रूप होते हैं जिनका क्रमश वर्णन करता हूँ —

हस, शशक, रूचक, मालव्य तथा भद्र—ये पाच पुरूप होते हुए ।।१७½-२१।।

कुब्जक दो प्रकार के—मेघ तथा वृत्तक, वामन तीन प्रकार के—पिण्ड, आस्थान और पद्मक, प्रमथ भी तीन प्रकार के हैं—कूष्माण्ड कवट तथा तिर्यक, किन्नर भी तीन प्रकार के होते है—मयूर, कुक्कुट और वाघ ।।२२-२३।।

स्त्रिया—बलाका, पौरूषी वृत्ता, दण्डका तथा ? ये चित्र-शास्त्रियो के द्वारा सब पाच प्रकार की बताई गई हैं ।।२४।।

भद्र, मन्द, मृग और मिश्र—यह चार प्रकार का हाथी होता हैं और उत्पत्ति के हिसाब से यह तीन प्रकार के बताये गये हैं—पर्वताश्रय नद्याश्रय, ऊपराश्रय। पारस (फारस) से लगा कर उत्तर (देश वासी) तक रथ्य घोडे दो प्रकार के होते है। सिंह चार प्रकार के होते हैं—शिखराश्रय, विलाश्रय, गुल्माश्रय और तृणाश्रय। व्याल सोलह प्रकार के होते है—हरिण, गृधक, शुक, कुक्कट, सिंह, शार्दूल, वृक, अजा, गडकी, गज, क्रोड, अश्व, महिष, श्वान, मर्कट और खर ।।२५-३०।।

टि० अंशाश (२८½—३०) पुनरुक्त एव भ्रष्ट भी अत अनुवादानपेक्ष्य।

विशेष —इस मूलाध्याय का ३१-३८½ प्रतिमा-लक्षण-नामक अध्याय का प्रक्षिप्तांश है, अत वह तत्रव परिमार्जित संस्करण मे प्रतिष्ठित किया गया है।

इस प्रकार सभी जातियो को दृष्टि मे रखकर यह सब मान-प्रमाण कहा गया। दिव्य आदि सभी जातियो का जो अखिल मानादि-कीर्तन किया, उसको स्फुट-रूप से समझ कर जो चित्रालेखन करता है उस के लिए सभी चित्रकार उस को अपना प्रधान मानते हैं तथा महान आदर करते है ।।३१।।

रसदृष्टि-लक्षण

चित्र रस —अब रसो का और दृष्टियो का यहा पर इस वास्तु-शास्त्र मे लक्षण कहूगा। क्योंकि चित्र मे रस के आधीन ही भाव व्यक्ति होती है। शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, प्रेय, भयानक, वीर, प्रत्याय (?) और बीभत्स तथा अद्भुत और शान्त—ये ग्यारह रस, चित्र-विशारदो के द्वारा बताये गये हैं। अब इन सब रसो का क्रमश लक्षण कहा जाता है ॥१—३॥

शृंगार —भ्रूकम्प-सहित तथा प्रेम-गुणान्वित शृंगार रस बताया गया है और इस रस म अपने प्रिय के प्रति मनोहर (ललित) चेष्टायें होती है ॥४॥

हास्य —अपाग आदि को ललित एव विकसित करने वाला तथा अधरो को स्फुरित करने वाला मृदु लील-सहित जा रस होता है, वह हास्य रस के नाम से पुकारा जाता है ॥५॥

करुण —आसुओ स कपोल-प्रदेश को क्लिन्न करने वाला, शोक स आखो को सकुचित करने वाला और चित्त को सताप देने वाला करुण-रस कहलाता है ॥६॥

रौद्र —जिस रस से ललाट-प्रदेश निर्मार्जित हो जाता है, आखें लाल हो जाती हैं, अधरोष्ठ दाता से काट जाते हैं, उसे रौद्र-रस कहते हैं ॥७॥

प्रेमा-रस —अर्थ-लाभ पुत्र-उत्पत्ति प्रिय-जना का समागम और दर्शन, जात-हृय से उत्पन्न होन वाला तथा शरीर को पुलकित करने वाला प्रेमा-रस कहा जाता है ॥८॥

भयानक —शत्रु-दर्शन से उत्पन्न त्रास एव सम्भ्रम से लोचना को उदभ्रान्त करने वाला और हृदय को सक्षुब्ध करने वाला भयानक रस कहलाता है ॥९॥

वीर —धैय, पराक्रम एव बल को उत्पन्न करने वाला—वह रस वीर के नाम से प्रसिद्ध होता है ॥१०॥

टि० —यहा पर वीर के बाद अन्य दो रसो का लोप हो गया है। ग्रन्थ भ्रष्ट एव गलित है।

अद्भुत-रस दो तारकाम्रो को स्तिमित करने वाला, यह रस असम्भाव्य वस्तु को देखकर अद्भुत-रस की सना मे प्रसिद्ध होता है ।।११।।

शान्त रस — बिना विकारो के शान्त एवं प्रसन्न भ्रूनेत्र तथा वदन आदि से एवं विषय-वैराग्य से यह रस शान्त रस के नाम से प्रथित होता है ।। २ ।

इस प्रकार ि त्र सयोग मे सलक्षण इन रसो का पतिपादन किया गया है। मानव-सम्द व पुरस्सर सब सत्वो अर्थात प्राणियो मे इनका नियोजित करना चाहिये ।।१३ ।

चित्र रस दृष्टियां अब रस-दृष्टियो का वर्णन करता ह । य अठारह बताई गई हैं —

(१) ललिता (२) हृष्टा, (३) विकासिता, (४) विकृता (५) भ्रुकुटि, (६) विभ्रमा, (७) सकुचिता (८) छविना (?) ९) ऊर्ध्वगता, (१० योगिनी, (११) दीना, (१२) दृष्टा, (१३) विह्वला, (१४) शकिता, (१५) दिविस्या, (?), १६) जिम्हा, (१७) मध्यस्था एव, (१८) स्थिर —य अठारह दष्टिया होती हैं। अब इनका क्रमश लक्षण कहा जाता है ।।१४ १६।।

ललिता —विकसित मुखाब्ज, कटाक्ष विक्षेप वाली शृगार रस से उत्पन्न ललिता दृष्टि समझनी चाहिये ।।१७।।

हृष्टा —प्रिय-दर्शन पर प्रसन्न और पूववत रोमाञ्च करने वाली तथा अपागो को विकसित करने वाली हृष्टा नाम की दृष्टि प्रसिद्ध होती है ।।१८।।

विकासिता —नयन प्रान्तो को विकसित करने वाली तथा अपागो, नयनो एव गण्ड-स्थलो को विकसित करने वाली क्रीडा चापल्य-युत हास्य-रस मे विकासिता दृष्टि होती है ।।१९।।

विकृता —भय को व्यक्त करने वाली और जिस मे तारकायें भ्रान्त होने लगती हैं उस भयानक रस में इस दृष्टि को विकृता नाम से पुकारा जाता है।।२० ।।

भ्रुकुटि —दीप्त ऊर्ध्वतारका के रक्त वर्ण होने से मन्द-दर्शना तथा उध्व-निविष्टा दृष्टि को भ्रुकुटि बताया गया है ।।२१।।

विभ्रमा —सत्व-स्था दृढ नदमा, सुन्दर-तारका, सौम्या एव उद्वेलिता इस दृष्टि को विभ्रमा नाम से बताई गई है ।।२२।

सकुचिता मन्मथ-मद से युक्त, स्पर्श रस से उन्मीलित दोनो अक्षि पुट वाली सुरतानन्द से युक्त सकुचिता नाम की यह दृष्टि विख्यात होती है ।।२३।।

योगिनी –निर्विकारा कहीं पर नासिका के अग्र भाग का देखने वाली अर्थात ध्यानावस्थित चित्त के तत्व मे रममाणा योगिनी नाम की दष्टि होती है ॥२४॥

दीना –अध-स्रस्तोत्तर पुटा अर्थात ओष्ठादि-वदन अवनत से प्रतीत हो रहे हो पुन कुछ मन्द-तारका, मन्द सञ्चारिणी शोक मे आसुओ से युक्ता, दीना नाम को दष्टि कही गई हैं ॥२५॥

दृप्ता—जिसकी तारकाये स्थिर हो और जिसकी दृष्टि स्थिर एव विस्मित प्रतीत हो रही हो वह उत्साह से उत्पन्न होने वाली दृप्ता नाम की दृष्टि बताई गई है ॥२६॥

विह्वला —भ्रू पुट तथा पक्ष्मो को म्लान करने वाली, शिथिला, मन्द-चारिणी तथा तारकाओ मे आभासित वह विह्वला नाम की दृष्टि बताई गई है ॥२७॥

शंकिता –कुछ चञ्चल, कुछ स्थिर, कुछ उठी हुई कुछ टेढी-मढी और चकित-तारा दृष्टि को शकिता नाम स पुकारत हैं २८॥

जिह्मा —जिसके मुखाङ्ग सभा पुट लम्बित हो रहे हो, दृष्टि टेढी तथा रुभा दिखाई पड रहा हो ऐसी निगूढा और मूढ-तारा को जिह्मा दृष्टि कहते हैं ॥२९–३०॥

मध्यस्था —सरल-तारा, सरल-पुटा, प्रसन्ना, राग रहिता, विषय-पराङ्मुखा ऐसी मध्यस्था दष्टि कहलाती है ॥३१॥

स्थिरा —सम तारा सम पुटा तथा सम-भ्रू वाली, अविकारिणी और रागा से विहीन स्थिरा दृष्टि कहलाती है ॥३२॥

हस्त से अथ को सूचित करता हुआ तथा दष्टि से प्रतिपादित करता हुआ सब अभिनय-दर्शन से सजीव सा जा प्रतीत हो अथात जो नाटच म अनिवाय एव आवश्यक अग है वही चित्र मे भी अनिवाय है ॥३३–३४॥

इस प्रकार से यहा पर रसो का तथा दृष्टियो का सक्षेप से लक्षण कहा गया। लिखने वाला मनुष्य चित्र का यथावत ज्ञान-सम्पादन करके कभी सशय को नही प्राप्त होता है ॥३५॥

षष्ठ पटल

चित्र एव प्रतिमा—दोनो के सामान्य अङ्ग

१ प्रतिमा एव चित्र के द्रव्य
२ प्रतिमा एव चित्र मे चित्र्य देवादिको के रूप एव प्रहरण आदि लाञ्छन
३ प्रतिमा एव चित्र के दोष-गुण
४ प्रतिमा एव चित्र की आदर्श आकृतिया (Models) एव उनके मान
५ प्रतिमा एव चित्र में मुद्राये —
   (अ) शरीर मुद्राये
   (ब) पाद-मुद्रायें
   (स) हस्त मुद्रायें

प्रतिमा-लक्षण

अब प्रतिमाओं—चित्रों का लक्षण कहता हूं । इनके सात निर्माण द्रव्य प्रकीर्तित किये गये है वे है सुवर्ण (सोना) रजत (चांदी) ताम्र (तांबा) अश्मा (पाषाण-पत्थर) दारु (लकड़ी) लेप्य अर्थात मत्तिका तथा अन्य लेप्य जैसे मालिक और ताण्डुल आदि तथा अलेख्य अर्थात चित्र । ये सब शक्त्यानुसार विहित एवं निर्माण्य बताये गये है । । पुनः चित्रों मे इस प्रकार से य प्रतिमा-द्रव्य सात प्रकार के बताये गये हैं । सुवर्ण पुष्टि प्रदायक माना गया है रजत कीर्ति वर्धन कारी, ताम्र प्रजा-वृद्धि कारक शलेय अर्थात पाषाण, भज या वह काष्ठ-द्रव्य आयुष्य कारक और लेप्य तथा अलेख्य ये दोनो धन प्राप्ति-कारक कहे गये है ॥ १—३ ॥

विद्वान ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय स्थपति को विधि-पूर्वक प्रतिमा-निर्माण तथा यह चित्र कर्म-प्रारम्भ करना चाहिए । वह हविष्य-नियताहारी तथा जप-होम-परायण और धरणी अर्थात पृथ्वी पर सोने वाला होना चाहिये ॥४-५½॥

टि० पूर्वाध्याय के अन्तिम पृष्ठ पर जो प्रक्षेप बताया गया है वह यहां पर लाना प्रासंगिक माना गया है । अतः वह यहां पर सयोज्य है —

' मुख का भाग से विधान है । ग्रीवा मुख से तीन भाग वाली बतायी गयी है । आयामानुरूप केशान्त पुनः मुख द्वादशांगुल विस्तारानुरूप परिकल्प्य है । दोनो भौहों का प्रमाण त्रिभाग से विहित है । नासिका भी त्रिभाग-परिकल्प्य है । उसी प्रकार ललाट का प्रमाण भी विहित है । ऊंचाई मे तीन के बराबर मुख कहा गया है । दोनो आंखें दो अंगुल के प्रमाण मे होती हैं । उसका विस्तार आधा कहा गया है । अक्षि तारका आंख के तीन भाग से सुप्रतिष्ठित करणीय है । पुनः इन दोनो तारकाओं के मध्य मे ज्योति (आंख की ज्योति) तीन अंश से परिकल्प्य है । इसी प्रकार इन अखिल मुखांगों का प्रमाणानुरूप परिकल्पन विहित है ॥५½–१०½

पांच अक्ष के प्रमाण से (?) दोनो का मध्य बनाना चाहिये । नेत्रों और कानों का मध्य पांच अंगुल का होता है । ऊंचाई से दुगने

आयत वाले दोनो कान आख के समान समझने चाहियें। कर्ण-पाली तथा उसके अन्य उपाग भी शास्त्रानुकूल निर्मेय है। वह खींचे हुए धनुष की आकृति वाली अरोम प्रभवा समझनी चाहिये। इसी प्रमाण से इन का कर्ण-पष्ठाश्रय भी होना चाहिये ॥१०३—१४॥

ऊर्ध्व-बध से कर्ण-मल-समाश्रित अधोत्रय वह होना है। आधे २ से गोलक समझना चाहिये और पीछे से इसी प्रकार विधान है। निष्पाव के सदृश आकार वाली कर्ण-पिप्पली बनानी चाहियें। उसका आयाम एक अगुल का और विस्तार चार यवो का होना चाहिये। पिप्पली के नीचे लाकर मध्य में नकार न इसकी सना लकार दी गयी है इसका आयाम आधे अगुल का और विस्तार पूरे अगुल का होना चाहिये। बीच में जो लकार है उसका विस्तार चार यवो के निम्न से होना है। पिप्पली के मूल मे चार यव के प्रमाण से कर्ण-छिद्र होता है। जो स्तलिका की सना पीयूषी गोलाकार बनायी गयी है, वह आधे अगुल से आयत और दो यवो के विस्तार से बनायी जाती है। लकार और आवत (परदा) के मध्य मे उसको पीयपी के नाम से पुकारते हैं। वह दो अगुल के आयाम वाली और डेढ अगुल के विस्तार वाली होती है। कान की जो बाह्य रेखा होती है उसको भी आवत कहते है। वह छै अगल का प्रमाण वाला वक्र और वृत्तायत होता है। मूल का अग्र आधे अगुल का बनाना चाहिये और क्रमश मध्य मे दो यव का। फिर आग एक यव के प्रमाण के विस्तार से बनाया जाता है। लकार और आवर्त के मध्य को उद्धान के नाम से पुकारा जाता है। ऊपर से गोलक म दो यव स युक्त कर्ण का विस्तार होता है। मध्य म दुगुना नाल और मूल म छै यवो से इन दोनो समुदायो के प्रमाण से आयामादि विहित है। इसी प्रकार अन्य भाग विहित हैं। पश्चिम नाल एक अँगुल के प्रमाण से बनाया जाता है तथा जो सुकोमल नाल दो कलाओं के आयत से बनाना चाहिए। कान के भाग का इस प्रकार सम्यक वर्णन कर दिया गया। उसका प्रमाण तो कम और न अधिक होना चाहिये। तब उसका कौशल प्रशस्त माना जाता है, अन्यथा दूषित ॥५१ २१॥

चिबुक (ठोडी) अगुल के आयाम से बताया जाता है। उसके आधे से कन्धर बताया गया है फिर उसके आधे से उत्तरोष्ठ होना है और भाजो आधे अगुल की उचाई से बनायी जाती है। ओठो के चतुथ भाग से दोनो नासा-पुट समझने चाहिये। उसके दोनो प्रान्त करवीर के समान सुन्दर बनाने

तारकान्त-सम ही स्वक्कणी कही गयी है । चार अगुल के प्रमाण से आयात नासिका होती है। पुट के प्रान्त पर नासिका का अग्र-भाग दो अगुल से विस्तृत होता है। आठ अगुल से विस्तृत चार अगुल मे आयत ललाट बताया गया है। चिबुक (ठोडी) से प्रारम्भ कर केशो के अन्त तक तथा गड तक पूरे शिर का प्रमाण बत्तीस अगुल का होना है। पुन दोनो कानो के बीच का विस्तार प्रमाण अठारह अगुल होता है । चौबीस अगुलो का परीणाह होना है। गर्दन ग्रीवा से वक्ष-स्थल पुन वक्ष स्थल से नाभि होती है। नाभि से मेढ़, फिर दो जघायें फिर उरुओ के समान दो जघायें दो घुटने चार अगुल वाले होते है । चौदह अगुल के आयाम प्रमाण से दोनो पग (पाद) बताये गये हैं और उनका विस्तार छै अगुल का होना चाहिये और ऊंचाई चार अगुल की। पाच अगुल की मोटाई मे और तीन अगुल की लम्बाई मे दोनो अगूठे होते है। अगूठे की लम्बाई के समान ही प्रदेशिनी (पहिली अगुली) है । उसके सोलह भाग से हीन बीच की अगुली बीच की अगुली के आठवे भाग से हीन अनामिका को समझना चाहिये । फिर उसके आठवे भाग से हीन कनिष्ठिका अगुली समझनी चाहिये । विद्वान को पादकम एव अंगुल के प्रमाण से अंगूठे का नख बनाना चाहिये और अंगुलियो के नखो को आठ अशो के प्रमाण से बनाना चाहिये । अगूठे की ऊचाई एक अगुल एव तीन यवो के प्रमाण मे बनाना चाहिये । प्रदेशनी एक अगुल की ऊचाई से हीन रखनी चाहिये । जघा के मध्य मे अठारह अगुल का परीणाह होता है और जानु के मध्य का परीणाह इक्कीस अगुल का होता है । उसी के सातवे भाग का जानु-कपालक समझना चाहिये । दोनो ऊरुवो के मध्य का परीणाह बत्तीस अगुल का होना चाहिये । वृषण पर स्थित मढ का परीणाह छै अगुल का होता है और कटि तो चार अगुल वाला तथा अठारह अगुल के विस्तार से कटि होनी है ॥२२-३८॥

जहा तक स्त्री प्रतिमाओ के निर्माण का विषय है वहा उसके विशिष्ट (पुरुष-प्रतिमा व्यतिरिक्त) अग शास्त्रानुकूल निर्मेय है । नाभि के मध्य मे छियालीस अगुलो का परीणाह होता है। स्तनो का अतर बारह अगुल के प्रमाण से बताया गया है। दोनो स्तनो के ऊपर तो दोनो कक्ष प्रान्त छै अगुल के प्रमाण से बनाये जाते है। ऊचाई से चौबीस अगुलो से युक्त पृष्ठ विस्तार होता है और वक्षस्थल का परीणाह पृष्ठ के साथ बताया गया है। जहा तक स्त्री-प्रतिमाओ की अगुलियो के मान की बात है वह भी शास्त्रानुकूल है। बत्तीस अगुलो के परीणाह से विस्तृत ग्रीवा बनाना चाहिये। छियालीस अगुल के प्रमाण

से भुजा की लबाई बतायी गयी है। वाहु के पहिले की पव अठारह अगुल से और दूसरी पव तो सोलह अगुल से बतायी गयी है । बाहु मध्य म परीणाह १८ अगुल का होता है और प्रबाहु का परीणाह बारह अगुल से और तल भी बारह अगुल के प्रमाण से बताया गया है । अगुली रहित, बुद्धिमानो के द्वारा उसे सप्तागुल बताया गया है । पाँच अगुल से विस्तीर्ण लेखा लक्षण से लक्षित पाच अगुल के प्रमाण से मध्यमा अगुली बनानी चाहिए । मध्म के पव के आधे से आगे हीन प्रदशिनी अगुली समभनी चाहिए और प्रदेशिनी के समान ही आयाम से अनामिका विहित है। फिर आध पव के प्रमाण से हीन कनिष्ठिका बनानी चाहिए । पव के आध प्रमाण से अगुलियो के सब नाखून बनाने चाहिये । इनका परीणाह आयाम-मात्र बताया गया है । अगठ का दैर्घ्य चार अगुलो का होना है । स्पष्ट, चार अथात सु दर यवाकिन पञ्चागुल इसका परीणाह विहित है । ऊचाई के अनुरूप ही मान पयन्त मे कुछ हीन नख बनाय गय है। अगुष्ठ और प्रदशिनी का अन्तर दो अगुल का होना है ॥३६—५१॥

स्त्रियो का इसी प्रकार से स्तन उरु, जघन अधिक होता है । तीन, चार चार तीन, अथवा केवल चार अधिक होता है । ग्यारह, अथवा दस अथवा तेईस तईस—यह सब स्त्रियो का कनिष्ठ मान बताया गया है और मध्य-मान ग्यारह अश का होता है । आठ कला का मान उत्तम प्रमाण बताया गया है । उनके वक्ष स्थल का विस्तार अठारह अगुल से करना चाहिए और कटि का विस्तार चौबीस अगुल मे करना चाहिये ॥५२—५५॥

प्रतिमाओ का यह सक्षेप प्रमाण बताया गया है ॥५६½॥

सकल देवो की पूजाओ मे क्रमश यह प्रमाण निर्दिष्ट किया गया। अत शिल्पियो को सावधानी स यथोचित द्रव्य-सयोग से इन प्रतिमाओ का निर्माण करना चाहिये ॥५७॥

देवादि-रूप-प्रहरण-संयोग-लक्षण

अब देवताओ के आकार और अस्त्र-शस्त्र का वर्णन करता हू और उसी प्रकार दैत्यो के यक्षो के गन्धर्वो नागो और राक्षसो के तथा विद्याधरो और पिशाचो के भी विवरण प्रस्तुत करता हूँ ॥१½॥

ब्रह्मा – अग्नि की ज्वालाग्रो के सदृश महा तेजस्वी बनाने चाहियें और स्थूलाग श्वेत-पुष्प धारण किये हुए श्वेत वस्त्र पहने हुए और कृष्ण मृग चर्म को उत्तरीय (ऊर्ध्व वस्त्र) धोती के रूप मे धारण किए हुए सफेद कपडो की डेस मे चार मुख वाले बनाने चाहियें। इनके दोनो वाम हस्तो मे दण्ड और कमण्डलु का न्यास करना चाहिए उसी प्रकार उन्हे मौञ्जी मेखला और माला धारण किए हुए बनाना चाहिए और दक्षिण हाथ मे ससार की वृद्धि करते हुए बनाना चाहिए। इस प्रकार बनाने पर ससार मे सब जगह क्षेम होता है और ब्राह्मण लोग सब कामनाओ से बढते है इसमे कोई शक नही। जब विरूपा दीना कृशा, रौद्रा कृशोदरी यदि ब्रह्मा जी की प्रतिमा बनाई जाय तो वह कल्याण-कारक नहीं होती है। रौद्र-मूर्ति बनवाने वाले को मारती है और दीन-रूपा कारीगर को मारती है। कृशा मूर्ति बनवाने वाले को सदा विनाश प्रदान करती है और कृशोदरी तो दुर्भिक्ष लाती है और कुरूपा अनपत्यता को प्रदान करती है। इस लिये इन दोषो को छोड कर यह प्रतिमा ब्राह्म प्रतिमा-निर्माण कुशल शिल्पियो द्वारा सुन्दर बनानी चाहिये ॥१½ ९॥

शिव — प्रथम यौवन मे स्थित चन्द्रांकित जटा-धारी श्रीमान् सयमी नीलकण्ठ विचित्र-मुकुट निशाकर-चन्द्र-सदृश तेजस्वी भगवान शम्भु की प्रतिमा बनानी चाहिये। दो हाथो से, चार हाथो से अथवा आठ हाथो से युक्त वह मूर्ति बनायी जानी चाहिए। पट्टिश अस्त्र से व्यग्र हस्त सर्पो और मृग चर्म से युक्त, सब-लक्षण सपूर्ण तथा तीन नेत्रो से भूषित इस प्रकार के गुणो से युक्त जहा लोकेश्वर भगवान शिव बनाये जाते है वहा पर राजा और देश अर्थात् राष्ट्र की परम उन्नति होती है ॥१०-१३½॥

जब नगर मे अथवा श्मशान मे महेश्वर की प्रतिमा बनायी जाती है तो

वहा भी यह रूप कुछ भि न बनाना चाहिए—विशेकर आकृति एव हस्त-प्रयोग। एसा रूप बनाने पर बनवाने वाले का कल्याण होता है। अठारह बाहु वाले अथवा बीस बाहु वाले अथवा शत बाहु वाले अथवा कभी सहस्र बाहु वाले रौद्र रूप धारण किये हुए, गणो से घिरे हुए सिंह-चर्म को उत्तरीय-वस्त्र के रूप मे धारण किये भीषण दष्टा से समान भाग के दात वाले, शिरोमालाओं से विभूषित चन्द्र से अङ्कित मस्तक वाले श्रीमान पीनवक्षस्थल तथा भयंकर दर्शन वाले इस प्रकार श्मशान स्थित भद्र मूर्ति महेश्वर का निर्माण करना चाहिये। ॥१३½-१७½॥

दो भुजा वाले राजधानी मे और पत्तन (शहर) मे चतुर्भुज तथा श्मशान और ग्राम के बीच मे बीस भुजाओं वाले महेश्वर की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये ॥१७½-१८½॥

यद्यपि भगवान भद्र (शिव) एक ही है स्थान भेद से वे भिन्न भिन्न रूप वाले तथा रौद्र और सौम्य स्वभाव वाले विद्वानों के द्वारा निर्मित होते हैं। जिस प्रकार से भगवान सूर्य उदय-काल मे सौम्य-स्नान होते हुए भी मध्याह्न के समय प्रचण्ड हो जाते हैं, इसी प्रकार अरण्य मे स्थित वे भगवान् शंकर नित्य ही रौद्र हो जाते है। वही फिर सौम्य स्थान मे व्यवस्थित होने पर सौम्य हो जाते है। इन सब स्थानों को जानकर किम्पुरुष आदि प्रमथो के सहित लोक-शंकर का निर्माण करना चाहिये। इस प्रकार से त्रिपुरशत्रु भगवान शंकर का यह संस्थान सम्यक प्रकार से वर्णन किया गया है ॥१८½-२२॥

कार्तिकेय —अब इस समय कार्तिकेय भगवान स्वामि कार्तिकेय के संस्थान का वर्णन किया जाता है। तरुण सूर्य सदृश रक्त-वस्त्र धारण किये हुए अग्नि के समान तजस्वी कुछ बालाकृति धारण किये हुए सुन्दर मङ्गल-मूर्ति, प्रिय-दर्शन प्रसन्न वदन श्रीमान ओज और तेज से युक्त विचित्र चित्र-विचित्र मुकुटों और मुक्ता मणियों से विभूषित छै मुख वाले अथवा एक मुख वाले रोचिष्मती-शक्ति अर्थात् अस्त्र को धारण किये हुए कार्तिकेय की प्रतिमा का संस्थान बताया गया है। नगर मे बारह भुजाओं की मूर्ति बनानी चाहिये खेटक मे छै भुजाओं की विहित है। कल्याण चाहने वालों को ग्राम मे दो भुजाओं वाली प्रतिमा का सन्निवेश करना चाहिये। शक्ति, शर, खड्ग मुसण्ठी और मुद्गर—ये पाचो आयुध उनके दक्षिण हाथों मे दिखाने चाहिये। एक हाथ प्रसारित भी होना चाहिये। इस प्रकार से दूसरा छठा हाथ बताया गया है। धनुष, पताका,

घटा भेट और कुक्कुट (जो Improvised object-weapan बोध्य है)—ये पाच आयुध बायें हाथ मे बताये गये हैं। तो छठा हाथ वहा पर सवधनकारी हस्त (हस्त-मुद्रा) वाला होना है। इस प्रकार से आयुधो से सम्पन्न सग्राम-भूमि में स्थित बनाये जाते हैं। अन्य अवसर पर तो उन्हें क्रीडा और लीला से युक्त बनाना चाहिए। छाग (बकरा) कुक्कट (मुर्गा) से युक्त तथा मयूर से युक्त मनोरम भगवान स्कन्द को शाखाओं पर विजय करने की इच्छा करने वालो को सभी नगरो मे बनाना चाहिए। खेटक मे तो षण्मुख ज्वलन-प्रभ तथा तीक्ष्ण आयुधो मे युक्त और पुष्प-मालाओ से सुशोभित बनाना चाहिए। ग्राम मे भी कान्ति और द्युति से युक्त उन्हें दो भुजा वाला बनाना चाहिए। दक्षिण हाथ मे तो शक्ति होती है और वाम हस्त मे कुक्कुट। इस प्रकार से विचित्र प्रभा वडे महान तथा सुन्दर विनिर्मेय हैं। पर म खेटक में और ग्राम मे इस प्रकार शास्त्रज्ञ आचार्य, भगवान मगवान् कार्तिकेय की मूर्ति का निर्माण करते है। अविरुद्ध कार्यों मे खेट ग्राम तथा उत्तम पुर मे कार्तिकेय का यह सस्थान प्रयत्न-पूर्वक करवाना चाहिए ॥२३ ३५॥

बलराम—बलराम तो सुन्दर भुजाओ वाले तालकेतु धारण किए हुए महाद्युति बल से ना-कुन्द व अंजन वाले चन्द्र-सदश-कान्ति वाले हल और मुसल धारण करने वाले महान घमण्डी चतुर्भुज सौम्य-मुख नीलाम्बर-वस्त्र-धारी मकुट एव अलकारो से तथा च न से विभूषित रवती-सहित बलदाऊ की मूर्ति का निर्माण करना चाहिए ॥३६ ३८॥

विष्णु—विष्णु वैदूर्य-मणि के सदृश पीताम्बर धारण किये हुए लक्ष्मी के साथ वाराह रूप मे, वामन रूप मे अथवा भयानक नृसिंह-रूप मे अथवा दाशरथि राम रूप मे वीर्यवान जामदग्नि के रूप मे दो भुजा वाले अथवा आठ भुजा वाले अथवा चार बाहु वाले अरिंदम, शख चक्र गदा को हाथ में लिये हुये ओजस्वी कान्तिमान नाना-रूप-धारी इस रूप में प्रतिमा में विभाव्य हैं। इस प्रकार मे सुरो और असुरो से अभिनन्दित भगवान विष्णु की प्रतिमा का सन्निवेश करना चाहिए॥ ३९-४२½॥

इन्द्र—देवाधीश इन्द्र वज्र धारण किये हुये सुन्दर हाथो वाले बलवान किरीट-धारी गद सहित श्रीमान श्वेताम्बर-धारी, श्रोणि सूत्र से मण्डित, दिव्याभरणो से विभूषित पुरोहित-सहित, राज-लक्ष्मी से युक्त, इन्द्र को बनवाना चाहिए ॥४२½-४४½॥

यम –वैवस्वत यम-राज (धमराज) समझना चाहिये। तज मे सूय के सदृश, सुवर्ण-विभूषित सम्पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाले पीताम्बर वस्त्र धारी और शुभ दन्त, विचित्र मुकुट वाले तथा अगगद-विभूषित बनाना चाहिय ॥४५½ ४६½॥

ऋषि-गण –तेज मे सूय के सदृश बलवान एव शुभ भरद्वाज और धन्वन्तरि बनाने चाहियें। दक्ष आदि आप प्रजापति भी इसी प्रकार परिकल्प्य है ॥४६½–४७॥

अग्नि –ज्वालाओ से युक्त, अग्नि की प्रतिमा बनानी चाहिये। उसकी वैस ता कान्ति तो सौम्य ही होनी चाहिय ॥४८½॥

राक्षसादि –ये रुद्र-रूप धारी, रक्त-वस्त्र धारण करने वाले, कराल, नाना आभूषणो एवं आयुधो से विभूषित सब राक्षस बनाने चाहियें ॥४८½-४९॥

लक्ष्मी –पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाली शुभ्रा, त्रिभगी चारु-हासिनी श्वेत-वस्त्र-धारिणी सुन्दरी, दिव्य अलंकारो से विभूषिता कटि-दश पर निवेशित वाम-हस्त से सुशोभिता एव पद्म लिय हुय दक्षिण हाथ से सुशोभिता एव शुचि-स्मिता प्रसन्न वदना लक्ष्मी प्रथम यौवन म स्थिता बनानी चाहियें ॥५० ५२½॥

कौशिकी –शूल, परिघ, पट्टिश पादुका, ध्वजा आदि लक्ष्मो से लाञ्छित कौशिकी का निर्माण करना चाहिये। पुन उसके हाथो म खेटक, लघु खड्ग, तथा सौवर्णी घण्टा होनी चाहिय। वह घोर-रूपिणी परिकल्प्य है। उसके वस्त्र पीत एव कौशेय होने चाहियें तथा उसका वाहन भगवती दुर्गा के समान सिंह होना चाहियें ॥५२½–५४½॥

अष्ट दिग्पाल –आठो दिग्पाल –शुक्लाम्बर-धारी मुकुटो से सुशोभित एव नाना रत्नो मे मण्डित इन आठो दिग्पालो का निर्माण करना चाहिये॥५४½-५५½॥

अश्विनौ –ससार के कल्याण-कारी दोनो अश्विनियो को एक ही समान बनाना चाहिय। वे शुक्ल माला और शुभ वस्त्र धारण किये हुये स्वर्ण कान्ति वाले निर्मेय हैं॥५५½-५६½॥

पिशाच एव भूत-गण –इनके दात भयकर तथा विचित्र होते हैं। इनके बाल मेचक-प्रभ प्रदर्श्य हैं। इनका वप वैदूर्य सकाश होना चाहिय इनकी मूर्छें हरी परिकल्प्य हैं। रग रोहित एव आकृति भयावह, लोचन लाल रूप नाना विध एव भयकर भी प्रदर्श्य हैं। इनके सिरो पर सर्पो का प्रदर्शन भी अनिवार्य है। इनके वस्त्र भी अनेक वर्ण हो सकते हैं। इनके रूप भयकर, कद छोटे भी ये

परुष, असत्य-वादी भयकर आदि रूपो मे निर्मेय हैं । साथ ही साथ भूतो की प्रतिमाओ मे वैशिष्टय यह है कि वे भी बडे भयकर उग्र रूप तथा भीम-विक्रम विकृतानन, सघ-रूप मे, यज्ञोपवीत धारण किये हुए, कवचो को लिये हुए तथा शाटिकाओ से शोभ्य ऐसे भूतो तथा उनके गणो को बनाना चाहिये ॥५६½ ६०॥

अब जो सुर और असुर नही बताये गये हैं उनको भी कार्यानुरूप बनाना चाहिये और जिस असुर और सुर का लिङ्ग हो राक्षसो और यक्षो गन्धर्वों और नागो का जो लिंग हो, विशेषज्ञ लोग उनका निर्माण करें । प्राय पराक्रमी, क्रूरकर्मा दानव लोग होते हैं उन्हें किरीट-धारी तथा विविध आयुधो से सुसज्जित बाहु वाले बनाना चाहिये । उनसे भी कुछ छोटे और गुणो से भी छोटे दैत्य लोग बनाने चाहिये । दैत्यो से छोटे मदोत्कट यक्ष लोगो का निर्माण करना चाहिये । उनसे हीन गन्धर्वों और गन्धर्वो से हीन पन्नगो और उनसे हीन नागो को बनाना चाहिए । राक्षस तथा विद्याधर लोग यक्षो से हीन देह धारी बनाये गये हैं। चित्र विचित्र माला एव वस्त्र धारण किये हुये तथा चित्र-विचित्र तलवारो और चमडो को लिये तथा नाना वेष धारण करनेवाले भयानक घोर रुप भूत सघ होते हैं । वे पिशाचो से भी अधिक मोटे और तेज से कठोर होते हैं ॥ ६१-६७ ॥

विशेष सकेत यह है कि न तो अधिक न कम प्रमाण, ५ रूप वेष इन सुरासुर गणो की प्रतिमाओ मे यह परिकल्पन आवश्यक है ॥६८½॥

टि० अंतिम श्लोक अधमात्र एव गलित है ।

पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण

हस प्रभति पाच पुरुषो और दण्डिनी-प्रभति पाचो स्त्रियो के देह व धाधिक का वणन करता हू । हम, शश, रुचक, भद्र, और मालव्य ये पाच पुरुष बताये गये हैं ॥१॥

हस —उनमे हस-नामक पुरुष का मान बताया जाता है। हस का आयाम ८८ अगुलो का बताया गया है। अन्य चार पुरुषो का आयाम क्रमश दो दो अगुल की वृद्धि से समझना चाहिए। उसका ललाट ढाई अगुल के प्रमाण मे तथा नासिका और ग्रीवा तथा वक्ष-स्थल ग्यारह अगुल के आयाम से होता है। इस प्रकार उदर नाभि, और लिंग का अन्तर दश अगुलो के प्रमाण का होता है। ऊरु बीस अगुल और जधा तीन अगुल और जानु पाच अगुल और दो अगुल का शिर। नेत्रान्त प्रमाण अपने मानानुसार सबसे अधिक होता है। उसी के बीस अगुल के प्रमाण स व क्षस्थल का विस्तार होता है। हस के हाथो का विस्तार बारह अगुल का होता है। दोनो प्रकाष्ठ दश अगुल के प्रमाण से विहित है। अलग २ श्रोणि नितम्ब आदि प्रदेश मानानुसार विहित होते हं ॥२-८॥

शश —हस के स्वभाव क विपरीत तथा अपने के अनुसार ही यह शश रूप विहित है। तथैव उसक अग निर्मेय है। शास्त्रानुकूल तीन अगुल क प्रमाण स (?) नासिका और मुख होता है। ग्रीवा भी उसी प्रमाण वाली होती है, वक्ष-स्थल तो ग्यारह अगुल के प्रमाण स होता है तथा उदर और नाभि और मेढ का अन्तर दश अगुल होता है। दोनो ऊरू बीस मात्रा, शश-नामक पुरुष की बतायी गयी है और दोना जानु बीस अगुल की और दोनो जधा बीस माना की। दोनो गुल्फ तीन अगुल के आयाम वाले और शिर भी उसी प्रमाण का होता है। इस प्रकार से इस शश-नामक पुरुष का आयाम ९० (नब्बे) अगुल के प्रमाण से होता है। इस का वक्ष स्थल बाईस अगुल के प्रमाण का बताया गया है। बाहु, प्रबाहु और पाणि, हस के समान शश के भी होते है। समयानुसार एव स्वभावानुरूप वह कृशोदर अर्थात दुबला बनाना चाहिये ऐसा विचक्षण विद्वानो ने बताया है ॥१४॥

रुचक —रुचक नामक पुरुष का मुखायाम साढे दश अगुल के प्रमाण मे बताया गया है। इसकी ग्रीवा साढे तीन अगुल के प्रमाण म वतायी गयी है। उसका वक्षस्थल ग्यारह अगल का और उसी प्रकार से उदर। नाभि और मेढ का अतर दश अगुल का वताया गया है। ऊरू बीस अगुल और जानु तीन अगुल और उनकी दोनो जघाग्रो का आयाम तीस अगुल के प्रमाण से बताया गया है। उसके दोनो गुल्फ और शिर तीन अगुल के प्रमाण के होते हैं। इस प्रकार से रुचक-नामक पुरुष ९२ अगुल का बताया गया है। इसके वक्षस्थल का विस्तार बीस अगुल का और इसकी दोनो भुजाये और प्रकोष्ठ दश अगुल के प्रमाण म बताये गये हैं। इसके दोनो हाथ ग्यारह अगुल के विस्तार वाले बताये गये है। इस प्रकार से पीन-स्कन्ध पीन बाहु लीला-सहित गति वाला और चेष्टा वाला, बलवान और वत्त-बाहु, सुदर आकृति वाला रुचक पुरुष होता है ॥१५—२१½॥

भद्र —भद्र के मस्तक का आयाम तीन अगुल से होता है।(?) ग्यारह अँगल से और ग्रीवा साढे तीन अगुल से। इस का वक्षस्थल और जठर पाद सहित ग्यारह अगुल का होता है। इसकी नाभि और इसके मेढ का अतर साढे दश अगुल से समझना चाहिए। दोनो ऊरूवो का आयाम पाद-सहित बीस अँगुल का समझना चाहिए। दोनो जघाग्रो का भी आयाम उसी प्रकार से और जानु और गुल्फ त्रिमात्रिक होते हैं। इस प्रकार से भद्र का आयाम ९४ अगुल का बताया गया है। वक्ष का आयाम २१ तथा दोनो बाहु ११ अगुल विहित हैं ॥ २१½—२५ ॥

टि० —लेखक Scribe not author) के प्रमाद-वश इस अध्याय का अश दूसरे अध्याय मे प्रक्षिप्त प्राप्त होता है अत इस परिमार्जित एव वैज्ञानिक सस्करण मे यथा स्थान उसको (प्रक्षिप्ताश द० स० सू० मूल अध्याय ७९ ८४½-९०) यहा पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण अध्याय (परि० स० ५८ २६-३८) म लाया गया है। अतएव इसका अब यहा अनुवाद दिया जा रहा है।

उस भद्र-पुरुष का वक्ष-स्थान एव श्रोणि अर्थात नितम्ब पृथक पृथक परिकल्प्य है। उसके बाहु गोल एव सुसस्कृत निर्मेय है, अतएव वह वास्तव मे भद्र (सौम्य) रूप बन जाता है। उसका मुख स्वभावत गोल ही बनाना चाहिये ॥२६॥

मालव्य —इस मालव्य नामक पाचवे पुरुष का मूर्धा-प्रमाण अगुल-त्रय बताया गया है। इसी प्रकार इसके ललाट, नासिका, मुख ग्रीवा वक्ष नाभि मेढ एव ऊपर आदि के अग भी शास्त्र मानानुरूप परिकल्प्य है। दोनो ऊरु इसकी

अठारह अगुल की तो, जघायें भी उसी प्रमाण की हों। अन्य अग जैसे जानु आदि वे चार अगुल से विहित हैं। इस प्रकार इस मालव्य-पुरुष का आयाम ९६ अगुल का प्रमाण प्रतिपादित किया गया है। उसके वक्ष-स्थल का विस्तार वास्तव में २६ मात्राओ का होता है। बाहु एव प्रबाहु इन दोनो का १६ मात्राओ से विहित है। पाणि दोनों द्वादश मात्रा के प्रमाण मे परिकल्प्य हैं। इस प्रकार इस मालव्य पुरुष की विशेषता यह है कि वह पीनास (पीन स्कन्ध) दीर्घ-बाहु (आजानु-बाहु), विशालवक्षा एव कृशोदर हो क्योकि इस पुरुष प्रमाण में महा-पुरुषो की प्रतिमा परिकल्पित की जाती है। इसके ऊरू, कटि, जघा सभी गोल होने चाहिये। अतएव यह पुरुष पुरुषोत्तम माना गया है २७—३१½॥

हसादि पाचो पुरुषो की अब सामान्य समीक्षा की जा रही है, जिसका सम्बन्ध विशेष कर मुखाकृति से है। हस का टेढा मुख तथा गण्ड-भाग भी कुछ पृथुल सा प्रतीयमान हो रहा हो। शश-नामक द्वितीय पुरुष का आनन कृश एव आयत सा प्रतीत हो रहा हो। विस्तार एव लम्बाई मे भद्र-पुरुष का आनन जैसा ऊपर बताया गया है, वह सुन्दर, सुडौल एव गोल हो। मालव्य की आकृति तो पहले ही पुरुषोत्तम के रूप म प्रकीर्तित की जा चुकी है, वैसी यहा पर भी निर्दिष्ट है ॥३१½-३४॥

अब पञ्च-स्त्री लक्षण प्रतिपादित किया जाता है। हसादि के समान इनके नाम है वृत्ता पौरुषी बालकी (बलाका) दण्डा (?)

टि॰ —परन्तु यहा पर तो केवल तीन ही भेद मिल रहे हैं अत प्रभिप्राय भी यह गलितांश है।

वृत्ता —नारी मासल-शरीरा, मासल-ग्रीवा मासलायत-शाखा तथा गोल मटोल बतायी गयी है ॥३५॥

पौरुषी —नारी पृथु-वक्त्रा कटी ह्रस्वा, ह्रस्व-ग्रीवा, पृथूदरी पुरुष के काण्ड-तुल्या ऐसी पौरुषी यथानाम पुरुषाकृति से भासित होती है ॥३६॥

बलाका -(बालकी) —नारी अल्प-काया, अल्प-ग्रीवा, अल्प-शिरस्का, ...-शाखा कृशाङ्गी, अल्प ब्रह्म-सत्वा बतायी गयी है ॥३७॥

पुन इस की परिभाषा मे स्त्री लक्षण-विचक्षण विद्वानो ने यह भी ... है कि पुरुष-सपर्क से वह कुमारावस्था मे अब प्राप्त-यौवना हो जाती है

तो वह दूसरी कोटि की बालकी या बलाका नारी के नाम से विख्यात होती है। ॥३८॥

इस प्रकार हस आदि प्रधान पुरुषो का और स्त्रियो का यहा पर यथावत लक्षण और मान का प्रतिपादन किया। जो इनको यथावत जानता है वह राजाओ से मान प्राप्त करता है ॥३९॥

दोष-गुण-निरूपण

अब अन्य चित्रों-मूर्तियों अर्थात प्रतिमाओं आदि कर्मों में वर्ज्य (त्याज्य)—रूपों का वर्णन करता हूँ और यह वर्णन गो-ब्राह्मण-हितैषियों तथा शास्त्रज्ञों के अनुसार वर्णित किया गया है ॥१॥

दुष्ट-प्रतिमा —अशास्त्रज्ञ शिल्पी के द्वारा दोष-युक्त निर्मित प्रतिमा सुन्दर होने पर भी ग्राह्य नहीं हो सकती ॥ २ ॥

प्रतिमा-दोष — अश्लिष्ट-सन्धि, विभ्रान्ता, वक्रा, अवनता, अस्थिता, उन्नता, काकजंघा, प्रत्यंग-हीना, विकटा, मध्य में ग्रन्थिता— इस प्रकार की देवता-प्रतिमा को बुद्धिमान पुरुष को कल्याण के लिए कभी नहीं बनवाना चाहिए ॥ ३–४ ॥

अश्लिष्ट-सन्धि वाली देवता-प्रतिमा से मरण, भ्रान्ता से स्थान-विभ्रम वक्रा से कलह, नता में आयु-क्षय, अस्थिता में मनुष्यों का नित्य धन-क्षय निर्दिष्ट होता है। उन्नता से भय समझना चाहिए और हृद-रोग। इसमें संशय नहीं। काक-जंघा देशान्तर गमन और प्रत्यंग-हीना से गृह-स्वामी को नित्य अनपत्यता तथा विकटाकारा प्रतिमा में दारुण भय समझना चाहिये। अधोमुखा से शिर का रोग —इन दोषों से युक्त जो प्रतिमा हो उसको वर्ज्य कहा गया है ॥ ५ ६½ ॥

इन दोषों के अतिरिक्त अन्य दोषों से युक्त प्रतिमा का अब वर्णन करता हूँ। उद्बद्ध पिण्डिता ? गृह-स्वामी को दुःख देती है, कुब्जिगता ? दुर्भिक्ष और कुब्जा प्रतिमा मनुष्यों को रोग देती है। पार्श्व हीना प्रतिमा तो राज्य के लिए अशुभ-दर्शिनी होती है। जो प्रतिमा नाना काष्ठों से युक्त तथा लौह-पिण्डिता और सन्धियों में बंधी, हो वह अनर्थ और भय को देने वाली कही गई है। लौह से अथवा कदाचित् वंशु से और उसी प्रकार से काष्ठ से प्रतिमा बनाना बताया गया है। पुष्टि की इच्छा रखने वाले को सन्धियां भी सुश्लिष्ट बनानी चाहिए।

शास्त्र-प्रतिपादित विधान के अनुसार ताम्र लौह से अथवा सोने और चांदी से बांधना चाहिए। इसलिए सब प्रयत्नों से शास्त्रज्ञ स्थपति को यथा-शास्त्र-प्रमाणानुसार सुविभक्ता प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए ॥६½ १७½॥

सुविभक्ता, यथाप्रतिपादित उन्नता, प्रसन्न-वदना, शुभा, निगूढ-सधिकरणा, समाना, आयति वाली, सीधी दस प्रकार की रुपवती एव प्रमाणो और गुणो से युक्त प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए। जहा तक पुरुष-प्रतिमाओ का सम्बन्ध है वे भी पूर्णांग, अविकलाग निर्मेय हैं ॥१७½-१८॥

सपूण गुणो को समझ कर और सपूण दोषो को ध्यान मे रख कर जो स्थपति यथाप्रतिपादित गुणो से कल्याण के लिए प्रतिमा का निर्माण करता है उस शिल्पी को और लोग शिष्यता स्वीकार कर उस बुद्धिमान शिल्पी की उपासना करते हैं और उसकी बार बार प्रशंसा करत हैं ॥१६॥

ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण

इस अध्याय मे अब इस के बाद नौ स्थान-विधि-क्रम का वर्णन करता हूँ। सपात एवं विपात से स्थानक प्रतिमाओं में ये नौ वर्तियां उपकल्पित हो जाती हैं। प्रतिमायें वास्तव मे मुद्राओं के द्वारा ही समस्त उपदेश एवं ज्ञान वितरण कर देती हैं। मुद्रायें तीन प्रकार की होती हैं—शरीर-मुद्रा, हस्त-मुद्रा एवं पाद-मुद्रा। इस अध्याय में शरीर-मुद्राओं—नौ मुद्राओं का वर्णन किया जाता है।

सर्वप्रथम शरीर मुद्रा ऋज्वागत है, पुनः अर्धर्ज्वागत, उसके बाद साचीकृत फिर अध्यर्धाक्ष—ये चारों शरीर-मुद्रायें उर्ध्वागत हैं। अब परावृत्त शरीर-मुद्राओं का कीर्तन करते हैं। उनमें भी ये ही परावृत पदोत्तर ये चारों मुद्रायें बन जाती हैं ऋज्वागत परावृत्त, अर्धर्ज्वागत परावृत्त, अध्यर्धाक्ष परावृत्त तथा साचीकृत परावृत्त। नवीं शरीर मुद्रा, यत परावलम्बी है अत इसे पार्श्वागत के नाम से पुकारते हैं क्योंकि वह भित्ति क-विग्रह है ॥१-४॥

स्थान-विधि वैसे नौ मुख्यतः चतुर्धा हैं, पुनः परावृत्त-परिक्षेप से इनकी अष्टधा हुई पुन, नवम पार्श्वागत के रूप में वर्णित किया गया है। अब इनके व्यन्तरों की संख्या इकतीस बनती है —

(i) ऋज्वागत तथा अर्धर्ज्वागत, इन दोनों के मध्य में व्यन्तर चार बनते हैं,

(ii) अर्धर्ज्वागत तथा साचीकृत इन दोनों के मध्य में तीन बनते हैं,

(iii) अध्यर्धाक्ष और साचीकृत इन दोनों के मध्य में केवल दो व्यन्तर बनते हैं,

(iv) पार्श्वागत का व्यन्तर केवल एक बनता है,

(v) ऋज्वागत के परावृत्त तथा पार्श्वागत इन दोनों के मध्य में दस व्यन्तर बनते हैं,

(vi) इसी प्रकार अन्य शरीरावयवों को दृष्टि में रखकर जैसे अर्धाङ्ग,

प्रर्धपुट, अधसाचीकृत-मुद्रा, स्वस्तिक-मुद्रा आदि इन व्यतरो से चित्र-शास्त्र-विशारदो ने व्यस्त-भाग से इनकी सख्या इक्तीस कही है। पुनश्च जिस प्रकार परावत्त, उसी प्रकार व्यतर भी यथाक्रम विभाज्य हैं। वास्तव मे भित्तिक म कोई वैचित्र्य नही परिकल्प्य है वह सब चित्राश्रित ही है ॥ ५-१३॥

दोनो पादो म सुप्रतिष्ठित वलस्त्य के अन्तर की स्थापना करना चाहिये। हिक्का मे दोनो पादो की निकट-भूमि पर सम्य प्रतिष्ठित होने पर ऋज्वागत प्रमाण जैसा पहले निरूपित किया गया है और बताया गया है तदनन्तर अधऋज्वागत का यह प्रमाण समझना चाहिये। ब्रह्मसूत्र का मुख वा मध्यगामी बनाना चाहिये। नेत्र-रेखा-समत्व मे ही दृढ तल प्रमाण स मुख निर्मेय हैं। अपाग का अक्षिकूट का और कान का क्षय विहित होता है दूसरे स्थान पर कर्ण का मान आध अगुल से माना गया है। दूसर अक्षि सूत्र पर बह्म-लसा का विधान है जा शास्त्रानुकूल निर्मेय हैं।

अक्षि का श्वेत भाग तीन यव क प्रमाण स और तारा एव प्रतिपादित प्रमाण मे निर्मेय है। उसका विस्तार और श्वत भाग और करवीर भी पूर्वोक्त प्रमाण से बनाना चाहिए। ब्रह्मसूत्र से एक अगुल क प्रमाण से करवार होता है। उसका दूमरा अग ता एक अगुल क प्रमाणसे सगम होना है। कर्ण और आख का अन्तर एक कना और आध अगुल के प्रमाण से बताया गया है। ब्रह्मसूत्र स एक अगुल के प्रमाण से और कपोल से २ अगुल क प्रमाण स पुट हाना है। पहन और दूसरे मे मात्रा के आध प्रमाणमे पुट होता है और नाप जसा पहले बताया गया है वही कतव्य है। दो यव अधिक एक अगुल के प्रमाण से दूसरा अग होना है। पर भाग मे अधर तो छ यव क प्रमाणस बनाया जाता है। गण्ड भी यथोचित परिकल्प्य है। ब्रह्मसूत्र से फिर हनु पर-भाग म १½ अगुल के प्रमाण से होता है और फिर मुख-लेखा एक अँगुल के प्रमाण से विहित है। अन्य अङ्गो क भी प्रमाण समझ बूझकर बनाना चाहिए। इन अगोपागो क निर्माण मे सूत्र का विधान प्रमाण की दृष्टि मे बहुत ही अनिवार्य है। कन्धाधर दूसरे भाग म सूत्र से पाच मात्रा वाला और पूवभाग मे उसे छ गोला क प्रमाण से समझना चाहिये। मध्य मे सूत्र से पीछे पार्श्व-लेखा का विधान है। चार कलाओ क प्रमाण से वक्ष-स्थल से मध्यम-सूत्र म कक्षा ६ भाग वाली होती है।

इसी प्रकार वक्ष-स्थल के अन्य अगो एव उपागो जैसे स्तन आदि उनका भी प्रमाणानुरूप परिकल्पन विहित है। दूसरा हाथ कम (योग) के अनुसार बनाना चाहिय।

उसी प्रकार से पूर्व हस्त का भी यथोचित प्रवल्गन होता है। मापनादि-क्रिया भी वैसी ही दक्षिण हाथ में भी होती है। पर मध्य में बाहर के सूत्र से छः अंगुल के प्रमाण से रेखा होती है। पूर्व मध्य में बाह्य-लेखा आठ मात्राओं के प्रमाण से होती है। नाभि-देश के पर भाग में यह बाह्य रेखा सात मात्राओं की होती है। कला-मात्र के प्रमाण से नाभि होती है। उसको पहला ६ अगुल के प्रमाण में होती है। पर भाग में कटि ७ मात्रा की और १० मात्रा की पूर्व भाग में। हृदय-रेखा पर-भाग में मुख-मान के मध्य से विकल्प्य एवं निर्णेय है।

पर नलक की लेखा एक अगुल के अन्तर में होती है। उसी प्रकार पर भाग की लेखा पष्ठांश है। नल के द्वारा पर-पाद की भूमि-लेखा बनाई जाती है। *तदनन्तर अंगुष्ठ ½ अगुल से और उसके ऊपर पार्ष्णि उसके आधे प्रमाण* में। अगूठा का अग्र भाग ब्रह्म-सूत्र में पाच मात्राओं के प्रमाण से और तलवा डेढ पाव अगुल के प्रमाण से बताया गया है।

अगूठा का अग्र भाग तीन कलाओं के प्रमाण से, सब अंगुलिया अगूठे से क्रमशः पर पर प्रमाणानुरूप विहित बनाई गयी हैं। इस प्रकार संनिवेश एव अवसाद से ये सब नौ अगुल वाला प्रमाण होता है। जानु जैसे पहले बताई गई है वैसी होती हैं और सूत्र से चार अगुल में विहित है। इसका नलक भी उसी के समान और दोनों नलक तीन अगुल के अन्तर पर। इसी प्रकार भाग के प्रमाण भी शास्त्र से अनुमोदित भूमि-सूत्र से नीचे गया हुआ पहला अगूठा एक कला के प्रमाण से होता है, दूसरा अगूठा और अंगुलिया ये सब यथोक्त प्रमाण से विहित बनाई गयी हैं।

इस प्रकार से कर्म एवं प्रमाण से युक्ति से समझकर करना चाहिये। इस प्रकार अर्ध-ऋज्वागत-नामक इस श्रेष्ठ स्थान का वर्णन किया गया ॥१४-४४½॥

साचीकृत विशेष — अब साचीकृत स्थान का लक्षण कहता हूँ। स्थान-ज्ञान की सिद्धि के लिये पहले ब्रह्मसूत्र का विन्यास करना चाहिये। पर भाग में ललाट देश लेखा और कला होती है। पर भाग में भ्रू-रेखा का यथाशास्त्र प्रमाण विहित है उसी प्रकार अन्य प्रमाण होते हैं। ज्योति के परभाग में एक यव के प्रमाण से तारा दिखाई पड़ती है। तदनन्तर ज्योति यव मात्र और फिर उसमें दो यवों के प्रमाण से तारा होती है। श्वेत और करवीर तदनन्तर प्राक्कथित प्रमाण से कनीनिका निर्णेय है। नासिका का मूल एक यव के अन्तर से समझना चाहिये। ब्रह्म-सूत्र से पूर्वभाग में दो ऊर्ध्व गोलें होते हैं। वहा पर अपाङ्ग दो गोलक के प्रमाण के अन्तर में समझना चाहिये तब एक भाग के

प्रमाण से कण का अभ्यन्तर और एक भाग के विस्तार से कण होता है। दो यव से कम एक कला के प्रमाण से व्यावृत्ति से बढाई गई आख होती है। पूव के करवीर के साथ सफेदी तीन यव के प्रमाण से बताई गई है और दूसरी सफेदी आख, तारा का प्रस्तार पूव प्रमाण से प्रतिपादित की गयी है। कपाल-लेखा परत एक कला होती है। ब्रह्म-सूत्र से दूसरे से नासिका का अग्रभाग सात यवो के प्रमाण से बताया गया है। पूवभाग मे नाभा-पुट एक यव अधिक एक अगुल के प्रमाण से विहित है। पूव भाग म उसके निकट गोजी बनाई जाती है। पर भाग वाला उत्तरोष्ठ अध मात्रा के प्रमाण से बताया गया है। अधरोष्ठ तीन यव के प्रमाण से। दाप से उन दानो का चाप-चय होता है। पाली के मध्य मे सूत्र होता है और पाली के परे चिवुक होता है। हनु-पयन्त रेखा-सूत्र से आध अगुल पर होती है। हनु के दूसरे भाग का मध्यगामी सूत्र परिमडल कहलाता है। एक ही सूत्र के साथ दूसरी आख तक परिस्फुटा ठोढी के ऊपर मुख-पयन्ता लेखा बनानी चाहिये। इन लेखाओ से विचक्षण को पर भाग का निर्माण करना चाहिय। ग्रीवा आदि अन्य अगोपागो का भी प्रमाण शास्त्रानुरूप विहित है। पूवभाग मे सूत्र से आध अगुल के प्रमाण से हिक्का सुप्रतिष्ठित होती है। बाह्य-लेखा उस सूत्र स आठ अगुल के प्रमाण से परभाग मे स्थित होती है। हिक्का-सूत्र से लेकर हृदय भाग आने होता है। उसी मात्रा से अन्य अन्य प्रदेश परिकल्प्य है। हिक्का-सूत्र म पाच अगुल प्रमाण वाले परभाग में स्तन होते हैं। रेखा का अन्त सूचन करने वाला मन्त्र डेढ अगुल के प्रमाण से बनाना चाहिये। उसके बाद बाहर का भाग एक मात्रा से निर्दिष्ट करना चाहिये और हिक्का सूत्र से लेकर स्तन-पयन्त यह ढ अगुल के विस्तार में प्रकल्प्य है। कक्षा के नीचे दो कलाओ के प्रमाण से बाह्यलेखा बनायी जाती है। भीतर की बाह्य-लेखा स्तन से पाच अगुल के प्रमाण से बनाई जाती है और ब्रह्म-सूत्र से एक भाग से मध्यभाग मे अन्य अग बनाया गया है। —(?) टेढा विभाजित किया जाता है। पूवभाग में मध्य-प्रान्त सूत्र से दस अगुल वाला होता है। ब्रह्म-सूत्र से नाभि-प्रदेश टेढा होता है। चार यवो से अधिक चार अगुल के प्रमाण से वह बताया जाता है। पूवभाग में वह ग्यारह अगुल के प्रमाण से बताया गया है। मध्य म दूसरे के दोनो ऊरुओ का अभ्यन्तराश्रित सूत्र जाता है और अपर भाग से पहले को एक कला से वह जाता है। जानु का अधोभाग आधी कला और तीन यव मे बनता है। जघा के मध्य से लेखा का प्रमाण नलक-प्रमाण होता है पुन चार से सूत्र स्पष्ट होता

है। इसी प्रकार से बाहरी लखाये बनायी जाती है। ब्रह्म-सूत्र से पाँच अंगुल के परभाग में कटि-प्रदेश निवेश होता है। इसी प्रकार अन्य गोप्य स्थान मेढ़ आदि एवं ऊरू-मूल आदि सब विनिर्मेय हैं।

सूत्र के अपर भाग से उरू के मध्य में दो कलाओं के प्रमाण से रेखा बनायी जाती है और सूत्र से पूर्व उरू का मूल, पूर्व से एक कला के प्रमाण से होता है। पर्व के जानु से दो कलाओं के प्रमाण से रेखा समझनी चाहिए। जानु ढढअंगुल और एक यव के प्रमाण से और उसका पार्श्व आधे अंगुल से बनाया जाता है। सूत्र के द्वारा पर-पाद की मध्य रेखा विभाजित की जाती है। आदि-मध्य अन्त—इन तीनों रेखाओं को साची सूत्र में उदाहृत किया गया है। प्राक् भाग से क्रमशः से पांच अंगुलों से प्राप्त होता है। परभाग स्थित उरू और जँघा इन दोनों का आधे अंगुल के प्रमाण से क्षय बनाना चाहिए। पराक्षि मध्य गामी सूत्र लम्ब भूमि प्रतिष्ठित होने पर पर-पाद तलान्त से पूर्वभाग से एक अंगुल से बनाया जाता है। ब्रह्म-सूत्र से पूर्वपाद का तल आठ अंगुल से होता है। दोनों तलों के नीचे सूक्ष्मा रेखा अठारह अँगुल के प्रमाण से बनायी जाती है। अंगुष्ठ-प्रान्त में प्रदेशिनी एक अँगुल से अधिक बनती है। पुनः अंगुष्ठ-मूलागम से अन्य अंगुलियां विहित हैं। यहाँ से जो लेखा बनती है उसे भूमिलेखा कहा गया है। सूत्र से आधे अंगुल से उसके ऊपर पर का पार्ष्णि विहित है। पूर्वपाद के अनुसार अंगुष्ठ में अंगुली का पात होता है। पुनः उप प्रदेशिनी मन से पर प्रदेशिनी बनायी जाती है। तदनन्तर अन्य सब अंगुलियां क्रमशः प्रकल्पित कही होती हैं। इस प्रकार से इस साचीकृत-नामक स्थान का यथार्थ वर्णन किया गया ॥४४½ ८२॥

अध्यर्धाक्ष स्थान-मुद्रा-विशेष —अध्यर्धाक्ष-स्थान का अब वर्णन करता हूँ। ब्रह्मसूत्र को मुख में रखकर के यहाँ पर मान किया जाता है। कर्णान्त रेखा सूत्र से यव सहित एक मात्रा की होती है।

टि० स० सू० के इस मूलाध्याय में—स० सू० के ८१वें अध्याय (पंच-पुरुष स्त्री-लक्षण) का अंश प्रक्षिप्त था अतः उसे परमार्जित कर यथास्थान तत्रैव न्यासित किया गया।

भ्रू प्रदेश को दो यव मात्राओं से लिखे। कृशयवाङ्गुल वाली यहां भ्रू-लेखा विहित है। अक्षि, तारा आदि अर्ध-प्रमाण से विहित हैं। कपोत रेखा पर भाग से यव-हीन एक अंगुल से बनती है सूत्र-पूर्व पटान्त अर्धांगुल इष्ट है। यथ च

नासिकान्त एक अगुल सूत्र से परे करना चाहिये । पुन मन मे नासापुट आधा गोजी का सूत्र मध्यग विहित है। आधे यव की मात्रा स गोजी होती है और पर भाग का जो उत्तरोष्ठ हाता है वह ब्रह्म-सूत्र से लगा कर दो यव के प्रमाण मे समझना चाहिए। पर मे तो नासिका के नीचे रेखा आधे आग अगुल म होनी चाहिए। अधरोष्ठ के परभाग मे प्रमाण यव बताया गया है। हनु तक लेखा के मध्य मे सूत्र प्रतिष्ठित होना है । सूत्र से पहल करवीर का प्रमाण दो यव कम दो अगुल का होता है और वह आधे यव के प्रमाण म दिखायी पड़ता है। तदनन्तर सफेदी डेढ यव के प्रमाण से बतायी गयी है। नाना तीन यव क प्रमाण से समझनी चाहिए। शेष पूर्वोक्त-प्रमाण से। कान के परदे के नीचे कर्ण मध्य-भागीय दो अगुल के प्रमाण से कर्ण का विस्तार विहित है। कान के परदे म चार यव के प्रमाण म शिर-पृष्ठ-लेखा हानी है। यह समझकर जैसा बताया गया है वैसा करना चाहिए। कर्ण-सूत्र से बाहर एक अगल क प्रमाण म ग्रीवा बनानी चाहिए। गल ग्रीवा हिक्का प्रागङ्गुलान्तर विहित है। हिक्का-सूत्र से ऊपर अस-लेखा अर्थात स्कन्ध-लेखा उसी प्रकार मे एक अगुल के प्रमाण म होती है। ब्रह्मसूत्र से अगुल सम्मित पर भाग म अस अर्थात कधा होता है। --(?) कक्षा-सूत्र स पहिल स्तन का प्रमाण केवल एक भाग मात्र स, कक्षा मे तीन कलाओ तक पार्श्व-लेखा बनायी जाती है। आगे की भुजायें यथा-शास्त्र-प्रमाणानुरूप विहित है । प्रासाद-मध्य सत्र ग्यारह अगुल का होता है । सूत्र से तीन अगुल के प्रमाण स परभाग-मध्य विहित है। पर भाग म सूत्र म एक अगुल के प्रमाण से नाभि इष्ट होती है। नाभि की उदर-लेखा तो तीन अगुल समझनी चाहिए। दोनो नितम्ब (श्रोणी) का प्रदेश नाभि-प्रदेश से विहित है। ब्रह्मसूत्र स पूव भाग म तीन भाग वाली और पर म तीन अगुल वाली कटि अर्थात कमर विहित है। ब्रह्म-सूत्राश्रित ता म मेढ़ स्थिति विहित है। पूर्वोक्त मध्य रेखा सूत्र क प्रत्यगुल अन्तर में उस बनाना चाहिये और उसी की मूल रेखा सूत्र म पहिले दो अगुल क अन्तर पर बनाया जाती है। पर की दोना उरूओं की मूल रेखा-सूत्र से दो कलाओ क अन्तर पर होती है। अब जहा तक जानुओं का प्रश्न है व भी इन्ही भाग प्रमाण में विहित है। जानु के मध्य में गयी हुई लेखा बाह्य-लेखाश्रित होती है। आधे २ मात्रा की जानु होती है और उसका अधोरेखा तो जो होती है वह सूत्र से पूर्व की ओर अगुल क प्रमाण से बनायी जाती है और सूत्र से पर पराङ्गुष्ठ-मूल पादक म एक अगुल

के प्रमाण से बनाया जाता है और मूल से अँगुष्ठ का अग्र-भाग साढे तीन अँगुला का होता है। सूत्र से परे जघा की लीखा चार अँगुल में होती है और पूव जघा की लखा तो दो अगुल में होती हैं। पव जानू एक कला के प्रमाण से और शेष यथोक्त प्रमाण मे। परपाद के तल में —? जो उँठा सुप्रतिष्ठित होता है —? व न्ढे कला क प्रमाण से बनता है। अथ च पाद की अँगुलियो का ऱ्यास एव प्रमाण भी शास्त्रानुकूल अनुमेय एव निर्मेय हैं। जो परागुष्ठ मूल से उत्थित तय-सूत्र बनता है उसका सम्बन्ध अगुष्ठाग्रिम है। पूव पाष्णि-तल के ऊपर तीन अगुल में बनाना चाहिए और पाष्णि के परपाद का पूव पाद तिरस्कृत होना ह। इस प्रकार अन्यर्धाक्ष नामक स्थान का यथा शास्त्र इस प्रकार से आलखन करना चाहिए ॥८३-११३॥

पार्श्वगत स्थानक मुद्रा विशेष —अब पार्श्वागत नामक पाचवें स्थान का वर्णन किया जाता है। व्यावर्तित मुख के अन्त मे ब्रह्मसूत्र का विधान किया जाता है। सूत्र म स्प ललाट की बायी रेखा को दिखाना चाहिए। सूत्र से नासिका-वश दो अशो के मान स विहित है, पुन अपाग दो कलाओ से और सूत्र स कान भी दो कलाओ क अश से विनिर्मेय हैं। तदनन्तर इसका मध्यगत सूत्र इसके आधे से स्थापित करना चाहिए। एक अगुल मे चिबुक-सूत्र से हनुमध्य चार यव वाला होता है। डेढ अगुल से नतग्रीवा बनाना चाहिये। एक अगुल से तदनन्तर हिक्का और चार से ब्रह्मसूत्र गमस्तक तथा श्रवणपाली विहित है। ग्रीवा दो अगुल से ही मध्य सूत्र कहा जाता है। हिक्का के मध्य सूत्र से अड-मूल दो कला चार भाग म होता है। आठ मात्रा म पीठ और इसी प्रकार से हृदय-लेखा। स्तन-मडल फिर उसी से एक अगुल के प्रमाण से बनाया जाता है और पूव भाग में कक्षा सूत्र से तीन भाग से और तीन मात्रा से अपर भाग में कक्षा बनाई जाती है। दोनो अन्ता का मध्य अगुल क प्रमाण से विद्वान लोग बताते है। मध्य-सूत्र से पयन्त-मध्य दस अगुल से बनाया जाता है। मध्य-पष्ठ चार से और नाभि-पृष्ठ पाच स, नाभि की अन्त रेखा नौ से और तीन कलाओ से कटि-पष्ठ होता है तथा उदर की प्रान्त-लेखा दस अगुलो से समझनी चाहिए। आठ मात्राओ से स्फिक का मध्य कहा जाता है। वस्ति-शीर्ष नौ से स्फिक-अन्त और आठ अगुलो क प्रमाण से विहित है। आठ से मेढ का मूल होता है और ऊरु का मध्य सात से विहित है। दोनो ऊरुवा का पाश्चात्य मूल भाग पाच अगुलो के प्रमाण से बनाया जाता है। पीछे से कर का मध्य

साढे चार अगुलो और वही आगे से साढे पाच अगुलो का बताया गया है। कर-मध्यागुल मध्य-सूत्र मध्य में बनाया जाता है। जानु के भाग में मध्य-सूत्र होता है। भाग और लेखा जानु मे सूत्र के दोनो तरफ होती है और जघा मध्य में बतायी गयी हैं। छ अगुल वाली जघा और नलक के मध्य में सूत्र कहा गया है। दोनो पार्श्वों पर दो अगुल के प्रमाण से नल बनाने चाहिएँ। मध्य-सूत्र से चार अगुल के प्रमाण से पार्ष्णि बनायी जाती है। पूर्वोक्त प्रमाण से अगुलिया और पादतल होता है। इस प्रकार से यह भित्तिक-मनक पार्श्वगत-नामक स्थान बनाया गया है ॥११२½—१२६½॥

परावृत्त स्थानक-मुद्रा-विशेष—अब इसके उपरात परावृत्त स्थानो का वर्णन करता है। वहा पर पहले ऋज्वागत परावृत्त स्थान का वर्णन किया जाता है। वहा पर दो अगुल के प्रमाण से दो कर्ण अलग २ बनाने चाहिए तथा पार्ष्णि और पयन्त इन दोनो का मध्य भाग सात अगुल होता है। साढे तीन अगुल से दो पार्ष्णि अलग २ बनाने चाहिए। कनिष्ठा अनामिका और मध्य म अगुलिया चार अगुल दिखानी चाहिए। अगुष्ठ (अगुठ अनामिका मध्या और कनिष्ठा बाह्यलेखा से सूत्रय हैं। यह परावृत्त स्थान होता है। शेष ऋज्वागत के समान आदेश किया गया। अर्ध्यर्जित आदि जो स्थान उनमे होते है जिसका जो परावृत्त स्थान हो उसके अनुसार उसका वह स्थान बनाना चाहिए। जो जो प्रमुख स्थानक बताये हैं उनकी दृश्यादृश्य सभी परावृत्त तथव कल्प्य हैं, ये बताये हुए स्थान जीवो मे द्विपदो म और निर्जीवो भी नगर यान आसन गृह आदि मे समझना चाहिए। समस्त प्रारूप ये नौ (६) ही स्थान हैं और जो बीच में विभक्त बताये गये है व उनके भेदो को भी समझना चाहिए ॥१२६½—१४६½॥

ऋज्वागतादि जो स्थान दृष्टि पथ के पथिक बनते है उनके स्थानो का जो मान होता है वह यहा भी बताया जाता है। अठारह से विस्तृत और उसके दुगुनी आयति से वह प्रमाण विहित है। और आयाम के अवदेश में उसका आग का विस्तार आठ म विहित है। —,?) उसके मध्यगामी सूत्र में नियमित की जाती है। विभिन्न अगो एव उपागो का भी यथा शास्त्र निर्माण है। स्तन का गर्भ गर्भसूत्र से विस्तार में छै अंगुल वाला होता हैं और छ अगुलो से दोनो स्तनों का तिरश्चा विनिगम होता है। गर्भ से तिरछे पष्ठ पर्व दोनो स्फिज भी दश अगुल के प्रमाण से बनाये जाते है। पुन पष्ठ वश स्फिचातुलानुसार विहित है।

जो नवागुल विहित है और स्फिक् से सात अगुल परे होता है। कक्षा का मूल, आयाम और गभ से दस अगुल वाला होता है। आग उसका निगम एक अगुल से और पीछे से सात अगुल से। गभसूत्र से तदनन्तर तिरछा पादाश अठारह अँगुल वाला होता है। गभ से प्रदेश पाच अगुलो से बनाया जाता है। जठर-गभ दोनो पार्श्वो पर और सामने भी अगुल से पेट का प्रदेश, पीठ पश्चात् सात अगुलो से साढे ग्यारह अगुलो से ऊरुओ का मूल बताया गया है। पाच अगुल के प्रमाण से इसका पहले का निगम और पीछे का निगम सात अगुल से। उरु-मूल के पीछे से तो दोनो स्फिज तीन अगुल के प्रमाण से निगत होते है। आगे तदनन्तर मध्य गभ सूत्र से छै अगुल का समझना चाहिए। टढ सूत्र से जानु पाच साढे नौ अगुलो से समझना चाहिये। और आयाम सूत्र से जावत पीठ से आग चार अगुल का होना चाहिये। गभ से टढा इसका नल छै अगुल वाला और पृष्ठ भाग से वह नौ अगुल वाला होता है। सूत्रान्त से अगुल-पर्यन्त साढे छै अगुलो से यह नलक निर्मेय है। इसका विस्तार भी नथव शास्त्रानुसार परिकल्प्य है। दैर्घ्य से यहा पर चौदह अगुलो का पाद बताया गया। गभ से आगे छै अगुल वाला और पीछे से छै अगुल वाला होता है। जानुओ एव अन्य प्रदेशो का अन्तर अगुल-मात्र है। इस प्रकार से ऋज्वागत, अधऋज्वागत मध्य सूत्र से बताया गया है। इस प्रकार इन सब के शष परावृत्ता एव व्यन्तरो का भी प्रबन्धन तथैव विहित है ॥१३८½–१५५॥

ऋज्वागत अर्धऋज्वागत, साचीकृत, अध्यर्धाक्ष एव पाश्वगत नामक स्थानो का वणन किया गया। उनके चार परावृत और बीस अन्तर भी बताये गये ॥१५६॥

अथ वैष्णवादि-स्थान-लक्षण

अब इसके बाद स्थानक अर्थात् चेष्टा-स्थानों का वर्णन किया जाता है जिनको समझ कर एवं उन्हीं के अनुसार विचार कर चित्र विशारद मोह को नहीं प्राप्त होते हैं ॥१॥

षड् स्थान —वैष्णव, समपाद तथा वैशाख और मण्डल प्रत्यालीढ और आलीढ इन स्थानों के लक्षण करना चाहिए ॥२॥

वैष्णव स्थान —इसमें तीसरे भाग का पूर्ण पाद गलित है। दोनों पादों का अन्तर ढाई ताल के प्रमाण में होता है। उन दोनों का एक समवित और दूसरा पक्ष स्थित त्रिकोण होता है और कुछ जंघा खिंची हुई दिखाई पड़ती है इस प्रकार का यह वैष्णव स्थान बनता है और यहां पर भगवान विष्णु ही देवता परिकल्पित किये गये हैं ॥३–६½॥

समपाद स्थान समपाद-नामक स्थान में दोनों पाद समान होते हैं और वे ताल-मात्र प्रमाण के अन्तर पर स्थित होते हैं। साथ ही साथ स्वभाव से वे सुन्दर होते हैं और यहां पर अधिदेवता ब्रह्मा होते हैं ॥७ ६½॥

वैशाख स्थान —दोनों पादों का अन्तर साढे तीन ताल का होता है। पहला पाद अर्ध तथा दूसरा पाद पक्ष-स्थित अंकित करना चाहिए। इस प्रकार से यह वैशाख नामवाला स्थान होता है और इस स्थान की अधिदेवता भगवान विशाख स्वामिकार्तिक होते हैं ॥८½ ८½॥

मण्डल स्थान —इन्द्र-सम्बन्धी मण्डल नामक स्थान होता है और दोनों पाद चार ताल के अन्तर पर स्थित होते हैं। तिरछी और पक्ष-स्थिति से कटि जानु के समान होता है ॥८½ ९½॥

आलीढ —पांच ताल के अन्तर पर स्थित दक्षिण पाद को फैलाकर आलीढ नामक स्थान बनाना चाहिए और वहां के देवता भगवान रुद्र होते हैं ॥९½ १०½॥

प्रत्यालीढ —दक्षिण पाद कुंचित करके वाम पाद को प्रसारित करना चाहिए। आलीढ के परिवर्तन से प्रत्यालीढ कहा जाता है ॥१०½ ११½॥

टि० इन प्रमुख स्थानक पाद-मुद्राओं के अतिरिक्त अन्य स्थानक मुद्राओं

का भी कीर्तन किया जाता है। इन मे तीन पाद मुद्रायें विशेष कीत्य हैं। वहां पर पहली मे दक्षिण तो बराबर, दूसरे मे अर्थात् वाम मे त्रिकोण तथा तीसरी मुद्रा मे कटि समुन्नत वाम -इस प्रकार यह पहली मुद्रा अवहित्थक नाम से दूसरी ?, तीसरी चक्रान्त के नाम से पुकारी गई है। समुन्नत कटि वाला वाम पाद जब प्रदश्य होता है तो उसकी संज्ञा अवहित्थ कही गई है। एक पाद बराबर स्थित तथा दूसरा अग्र-तल से युक्त कहलाता है तो उसकी संज्ञा .. ? तीसरी चक्रा त कही जाती है। ये तीन स्थान स्त्रियों के और कही कही पुरुषो क भी होते हैं ॥११‌३—१३॥

कटि के पार्श्व-भाग मे दो हाथ, मुख वक्षस्थल, ग्रीवा तथा शिर इन समस्त स्थानो मे क्रियानुसार काय करना चाहिए। क्रियायें अनन्त है। उनका सपूण रूप से वणन करना असम्भव है। इस लिए हम लोग यहा पर उनका दिङ्‌मात्र वणन करते हैं ॥१४-१५॥

प्रिय के निकट प्रसन्न स्त्री का अथवा प्रिया के निकट पुरुष की जैसी स्थिति अथवा सस्थान हो वह ब्रह्म-सूत्र ऋज्वागत स्थान मे होता है ।१६ १७३।

इन मुद्राओ में अवयव विभाग भी होता है उसका क्रमश अब वणन करता हू ॥१७॥

नासिका और अधर-पुटो मे और अन्य नाना अगो मे जैसे सक्कणी नाभि आदि तथा पीछे ऊरू के मध्य से और उसी के समान पीछे के गुल्फ के अन्त म त्रिभग-नामक स्थान मे सूत्र की गति बतायी गयी है। इस त्रिभग-नामक स्थान मे एक ताल के अन्तर पर गति दिखानी चाहिए। छतीस अगुल भागीय स्थान के मध्य मे ऐसा निर्माण विहित है ॥१८ २०॥

त्रिविध-गतियां—द्रुत, मध्य, विलम्बित—प्रभेद से तीन प्रकार का गमन होता है।

टि०—इन गमनादि त्रिविध गतियो का अनुवाद असभव है, यत पूरा का पूरा ग्रन्थ गलित एव भ्रष्ट है।

इस प्रकार से इन सब गमन-स्थानो मे सस्थान समझना चाहिए। अन्य सूत्रो की यथोचित स्थिति को विद्वान् लोग ठीक तरह से समझ कर करें ॥२१-३४॥

टि० इन मुद्राओ मे दृष्टि एव हस्तादि के क्रियाओ का विवचन अनिवाय है।

दष्टियो हस्तो आदि के विनिवेश से इन चार स्थानो का छदानुकीतन होना है ॥३५॥

सूत्र वि यास क्रिया –और भी बहुत सी जो मनुष्यो की क्रियायें होती हैं वे अकित करने योग्य होती हैं। उनका शिष्या के ज्ञान के लिए तीन सूत्रा का पातन करना चाहिए। ब्रह्म सूत्र-गत सूत्र म और जो पाश्व मे सम्बन्धित वहा पर उन स्थाना मे ऊपर तीन सूत्र है व पूणरूप से बोधव्य है। उनमे मध्य मे जो बनाया जाता है उसे ब्रह्मसूत्र कहते हैं। भित्ति के फिर अय भाग की अपेक्षा मे पाश्व म स्थित जो सूत्र होता है वह मध्यगामी ब्रह्मसूत्र कहलाता है। जो दोना पार्श्वों पर से मय है उसकी भी सज्ञा पाश्व सूत्र ही है। प्रदत्तावयवो की पण निष्पत्ति के लिये विधान-पूवक जो जो अभीप्सित काय सम्पादित करना है उसमे इन तीनो ऊध्व-सूत्रो का वि यास अनिवाय है। इन के मान नियङ्-मानानसार ही व नय हैं ॥३६-४२॥

वष्णव प्रभति स्थाना का वणन ठीक तरह स किया गया। गमनादि तीनो गतियां भी बनायी गया है। सूत्र की पातन विधि भी यथावत प्रतिपादित की गयी हैं और इसके ज्ञान स स्थपति शिल्पिया म श्रेष्ठ गिना जाता है ॥४३॥

अथ पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण

टि० शरीर-मुद्राओं एव स्थानक मुद्राओं के उपरान्त अब हस्त-मुद्राओं का वर्णन किया जा रहा है।

अब चौसठ हस्तों के योगायोग-विभाग से लक्षण और विनियोग का वर्णन किया जाता है ॥१॥

१	पताक	६	कपित्थ	१७	चतुर
२	त्रिपताक	१०	खटकामुख	१८	भ्रमर
३	कर्तरीमुख	११	शूच्यास्य	१९	हंसास्य
४	अर्धचन्द्र	१२	पद्मकोष	२०	हंसपक्ष
५	अराल	१३	अहिशीर्ष	२१	सदंश
६	शुकतुण्ड	१४	मृगशीर्ष	२२	मुकुल
७	मुष्टि	१५	कांगूल	२३	ऊर्णनाभ
८	शिखर	१६	कालपक्ष	२४	ताम्रचूड

यह चौबीस हस्तों की संख्या होती है और उनका लक्षण और कर्म बताया जाता है ॥२-५॥

पताक-हस्त — जिसकी प्रसारित अग्र-भाग सहित अंगुलियां होती है और जिसका अंगुष्ठ कुंचित होता है उसको पताक कहा गया है।

अब इसके विशेषों के सम्बन्ध में यह सूच्य है कि वक्ष स्थल से लगाकर शिर तक उत्क्षिप्त हस्त उठा हुआ और बायें से झुका हुआ और कुछ भकुटियों को चढ़ाकर और कुछ आंखें फाड़कर प्रहार का निर्देश करे। पुन प्रतापन एवं उग्र रस का दर्शन कराता हुआ एवं अविकृत मुखाकृति से कुछ मस्तक पर हाथ रख कर पताका के समान स्फारित नेत्रों से एवं भकुटियों को आकुञ्चित भौंवों के द्वारा यह हस्त साक्षात् गर्व-प्रतिमा (मैं साक्षात् गर्व हूं) चित्र-शास्त्र विशारदों के द्वारा बताया गया है। जो वक्ष्यमाण अर्थ है उनमें उसको संयुत करे। दूसरा हाथ इसमें विहित है। इस हाथ को ऊपर उठाकर अंगुलियों को चलाता हुआ वर्षधारा-निकर का दर्शन करावे तथा पुष्प-

त्रिपताक-हस्त मुद्रा - पताक हस्त मे जब अनामिका अगुली टढो होनी है, तब उस हस्त को त्रिपताक समभना चाहिए और उसके कम का अब वणन किया जाता है। इस की विशेषता है कि उसमे अगुनिया—मध्या, कनिष्ठा आदि चल रही हो। कुछ नत मस्तक से यह करना चाहिए और इस को ऊपर उठा कर विनत मस्तक से उसी प्रकार अवतरण क्रिया करनी चाहिए। पास से प्रसपण करता हुआ इसी प्रकार से विसजन करना चाहिए। पुन प्राङमुख होकर अथवा भ्रकुटी तान कर पार्श्वस्थित से धारण और नीचे झुके हुए से प्रवेश करना चाहिए। पार्श्वस्थ से धारण तथा अधोनति से प्रवेश करते हुए दोनो अगुनियो के उत्क्षेपण से तथा इसके तानन से और अविकारी मुख से उत्तावन करना चाहिए और पार्श्व मे नत मस्तको से प्रणाम करना चाहिए। फैलाये ऊपर अगुलि उठा कर निदर्शन करना चाहिये ? हुये मुख के आगे विविध वचनो का निदशन एव अनामिका आदि अगुलियो से सूचन पुरस्सर मागलिक पदार्थों का समालम्भ किया जाता है। पराङमुख तथा शिर-प्रदेश म सरण करते हुये इस हाथ से शिर-सनिवेश दिखाना चाहिए। और यह सब अविकारी मुख से दिखाना चाहिए। दोनो तरफ से केश के निकटवर्ती दोनो हाथो स साफा और मुकुट आदि प्राप्त करता है। यह दिखाना चाहिए। और कान और नाक का बद करना दिखाना चाहिए। निकट-स्थित पाणि बनावटी भौवो से तथा ऊपर स्थित दो अगुली वाले उस हाथ से दोनो अगुलियो स अधामुख दिखाना चाहिए। इसी हाथ के चलायमान दोनो अगुलियो से पटपदो को दिखाना चाहिए और कभी २ दोनो हाथो से छोटे २ पक्षियो का दिखाना चाहिए और पवन प्रभतियो को भी और अन्य पदार्थों को भी दिखाना चाहिए। चलती हुई अगुलियो वाले अधोनत दोनो हाथो से अथवा अधोमुख से आगे सपण करता हुआ स्रोत दिखाना चाहिए। ऊपर स्थित सून-सदृशाकार दूसरे हाथ से गगा का स्रोत दिखाना चाहिए। सम्मुख प्रसपण करते हुए चलायमान एक हाथ से वह विकृतानन विचक्षण को सप का अभिनय करना चाहिए। कनीनिका-देश-सर्पी अधोमुख दूसरी दोना अगुलियो से उस विनतानना व्यक्ति का अश्रुप्रमाजन दिखाना चाहिए। नीचे २ सपण करती हुई भाल-दश तक जाती हुई भ्रकुटी को धीरे धीरे लचाकर तिलक की रचना करनी चाहिए और फिर उस अनामिका से रोचना-क्रिया करनी चाहिए। यह क्रिया भाल-प्रदेश पर विशष रूप से विहित है। और उसी से अलका का प्रदशन करना चाहिये तथा उत्तानित त्रिपताक-हस्त से हास करना चाहिए। मुख के आगे टेढी २ दा अगुलिया क चालन से और वक्ष स्थल के अग्र-भाग से दो अगुलियों

के चलाने से मयूर, सारिका काक और कोकिल को दिखाना चाहिए। इसी प्रकार मानो पूरे तीनों लोकों का अभिनय प्रदश्य है ।।४० ६२।।

कतरीमुख हस्त – त्रिपताक हस्त में जब मध्यम अंगुली की पृष्ठावलोकना तर्जनी होती है तब यह कतरीमुख नाम से पुकारा जाता है। झुके हुए नम हुए पैर से सन्चरण प्रदश्य है तथा अन्य भंगियाँ भी अधोमुख से इसी भंगी में रंगण करना चाहिए। मस्तक-वर्ती उन्नत भ्रू-प्रदेश मयुत रूप से श्रृंग दिखाना चाहिए। ऊंची उठी हुई तथा तनी हुई भी दिखाय। पुन कुछ नीचे झुके हुए उससे अध पतन अथवा जाते हुए मरण दिखाना चाहिए। शंकित विष्पण-रहित हस्त से, पुन कुछ कुञ्चितभ्रू से शिर को झुकाते हुए चलते हुए अन्य भंगिया प्रदश्य एवं अभिनेय है ।।६३–६६½।।

अर्धचन्द्र-हस्त मुद्रा – जिसकी अंगुलिया अंगूठे के साथ धनुष के समान खिंची हुई होती है उस हाथ को अर्धचन्द्र कहा गया है। अब उसके कर्म का वर्णन किया जाता है। भौं को ऊंचा कर के एक हाथ से शशि-लेखा का प्रदर्शन करना चाहिए मध्यमा से उपयम्न उसी प्रकार निर्धारित करना चाहिए। मोटे तथा छोटे पौध शंख, कलश कंकण इन सब को सयत हस्त से दिखाना चाहिए। रशना, कुंडल आदि के तथा तलपत्र के तर्दशवर्ती उससे कमर और जांघों का भी अभिनय दिखाना चाहिए। इसी से अनुगत दृष्टि अन्य अभिनयों में भी प्रदश्य है ।।६६½-७३।।

अराल-हस्त-मुद्रा – पहली अंगुली धनुष के समान विनत बनानी चाहिए और अंगूठा कुंचित होना चाहिए और शेष अंगुलियां अराल नामक हस्त में भिन्न एवं ऊर्ध्ववलित अर्थात् उठी हुई बतायी गयी हैं। आगे से फैलाय हुए तथा कुछ ऊपर उठे हुए इस हस्त से सत्त्व (बल) शौडीय (शौर्य) गाभीर्य क्षम और कान्ति दिखाना चाहिए। और भी जो दिव्य पदार्थ हैं उनको भी अविकतानन भौंहों को उठाये हुए उस नतक को इसी भांति से दिखाना चाहिए एक हाथ से आशीर्वाद दिखाना चाहिए। स्त्रीकेश-ग्रहण जो होता है और अपने सर्वांग का निवर्तन जो किया जाता है तथा उत्कर्षण भी यह जो सब किया जाता है वह सब भी उठी हुई भ्रू प्रदर्शन पुरस्सर करना चाहिए और प्रदक्षिण गत हाथों से उसे दिखाना चाहिए। विवाह और सम्प्रयोग तथा बहुत से कौतुक अंगुली के आगे समायोग से बनाई गई स्वस्तिका वाले परिमण्डल से प्रादक्षिण्य दिखाना चाहिए तथा इसी के द्वारा परिमण्डल–संस्थान महाजन

और इस पृथ्वी पर जो निर्मित द्रव्य हों उन सबको दिखाना चाहिए। दान वारण (निषेध) आह्वान अर्थात आवाहन (बुलाना), वचन अर्थात उपदेशादि इस असयुत एव चलित हस्त से दिखाना चाहिए। तथा इसी हाथ से पसीने को हटाना और सूंघना चाहिए। नाट्य कोविदो के द्वारा उस प्रदेश से प्रवृत्त हस्त से स्त्रियो के विषय मे भी यही हाथ प्राय प्रयोग मे लाया जाता है। इन सब कर्मों का यह अराल नामक हस्त विपाक के समान करता है। मुख-स्थित इस हस्त से अभिनय उचित नही यह क्रम पूर्वोक्त प्रदेश्य है ॥७४-८५२॥

शुक तुण्ड हस्त-मुद्रा—अराल-नामक हस्त की जब अनामिका अगुली टेढ़ी होती है तब उस हाथ को शुक-तुण्ड समझना चाहिए और उसके कर्म का वर्णन अब किया जाता है। 'तुम इस तिरछे हस्त से अपना मत दिखाना'—यह निर्देश है। पुन पुन प्रसारित एव सामने झुकते हुए आवाहन, तिरछे प्रसारण पुन विसर्जन आदि व्यावृत्त हस्त-मुद्रा मे दिखाना चाहिए। इस हस्त से फिर दृष्टि एव भ्रू का अनुगत प्रदेश्य है ॥८५२—८९॥

मुष्टि हस्त मुद्रा—जिस हाथ के तल मध्य मे अगुलियां अग्र सस्थित होती है और अगूठा उनके ऊपर होता है उसको मुष्टि नामक हस्त कहते हैं। यह भ्रुकुटि चढ़ाये हुए मुखो सहित इस हस्त द्वारा प्रहार और व्यायाम कराना चाहिए और नियम मे तो पार्श्व मे स्थित हाथो से बनाया जाता है ॥९०-९१॥

शिखर-हस्त मुद्रा—छड़ी तथा तलवार के ग्रहण मे स्तन पीडन मे, गात्र-मर्दन मे असयुत मुद्रा मे इस हस्त को करना चाहिए, पुन इसी हाथ की मुष्टि के ऊपर जब अगूठा प्रयुक्त होता है तब इस पाद को प्रयोग करने वालो को शिखर नाम से समझना चाहिए। कुश रश्मि अर्थात डोरी तथा धनुष के ग्रहण मे इस याम बनाना चाहिए। जहा तक शोणि अर्थात् नितम्ब-प्रदेश के ग्रहण का विषय है वह दोनो हस्तो को व्यष्टे तक करना चाहिए शक्ति, तोमर आदि आयुधो के मोचन मे तो दक्षिण हाथ का प्रयोग किया जाता है, पाद और ओठ के रजन मे चलितागुष्ठक होता है। वालो के समुत्क्षेपण मे उसी प्रदेश मे स्थित होता है तथा इसकी दृष्टि और दोनो भ्रुवो को अनुगत बनाना चाहिये ॥ ९२—९६ ॥

कपित्थ हस्त मुद्रा—इसी शिखर-नामक हस्त की जब प्रदेशिनी नामक अगुली दो अगूठा से निपीडित होती है तब उस हस्त को कपित्थ नाम से पुकारा

जाता है । इसी हाथ से विद्वान को चाप, तोमर, चक्र, असि (तलवार), शक्ति वज्र, गदा आदि इन सब शस्त्रो के चलाने का अभिनय करना चाहिए। इस प्रकार इन आयुधो के विक्षेपावसर दृष्टियो एव भ्रू चालनो का भी सयोग अपेक्षित है ॥९७ ९९॥

खटकामुख हस्त-मुद्रा —कनिष्ठा अगुली के सहित इस कपित्थ की अनामिका अगुली उच्छिन्न एव वक्रा होती है तब यह हाथ खटकामुख समझना चाहिए। इसी नत हस्त से होत्र हव्य और अन्न बनाया जाता है। दोनो हाथों से छत्र-ग्रहण तथा छत्राक्षेपण द्रष्टव्य है। एक स आदर्श (शाशा) पकडना और पखा चलाना दूसरे से अवक्षेपण करना, उत्क्षेपण करना फिर खण्डन करना घूमते हुए इससे परिवेषण करना तथा बडे दण्ड को ग्रहण करना, वस्त्रालम्बन करना, कुस केश-कलाप आदि के पकडन मे तथा माला आदि के सग्रह म दृष्टि एव भौं सहित इस हस्त को विचक्षण के द्वारा प्रयोग करना चाहिए। ॥१००-१०४॥

सूचीमुख हस्त-मुद्रा —सूचीमुख खटक सज्ञक हस्त मे जब तर्जनी नामक अगुली फैला दी जाती है तब उस हस्त को सूचीमुख के नाम से प्रयोग-शास्त्रियों को समझना चाहिए। इसकी प्रदर्शिनी नामक अगुली का ही प्राय व्यापार होता। यह हस्त सम्मुख से कम्पित उद्वलित लोलन्द एव वाहित विभ्रमा से प्रदश्य है। भ्रू-का अभिनय, चालन एव जम्भन भी अपेक्ष्य है। धूप दीप पुष्प माल्य, पल्लव आदि पुष्प-मञ्जरी प्रभति भी प्रदश्य हैं। इस म टेढा गमन भी अभिनेय है। बालसर्पों को भी यहा दिखाना आवश्यक है । पुन छोट मयूरो मडल और नयनो (जो ऊपर स चचल हो रहे हो) उनकी तारकाओं को भी दिखाना चाहिये। तथा नासिका की दण्ड यष्टियो को दिखाना चाहिए, मुखासन्न आगे विनत इससे दाढी दिखाना चाहिए और टेढे मडल वाली उससे सब लोक दिखाना चाहिए। लब और बडे दिवस म इस उन्नत करना चाहिए। अपराह्न-वेला में भी का भृकुटी और मुख के निकट उसका कुचिता विजृम्भित करना चाहिए। नृत्य के तत्व का जानन वाला क द्वारा वाक्यार्थ के निरूपण मे इस प्रकार की उस अगुली का प्रयोग करना चाहिए जिसस हाथ फैला हुआ हो, अगुलिया कप रही हो विशेष कर गुस्से मे पुन हाथ को उठा कर फला कर यह अभिनय प्रदश्य है। कुतल अगद, गण्ड एव कुण्डलो के रूपण मे तद्देश-वर्तिनी उस अगुली को बार बार चलाना चाहिए। पुन उस ललाट म सवन एव उन्वृत्त रूपा भृकुटे इस प्रकार अभिनय म लाओ—इस

प्रकार अभिनय मे लाये, इस प्रकार की हस्त-मुद्रा से फिर उसको फैलाकर, उठा कर दिखाना चाहिये। और उग्र कोप-प्रदर्शन इस अगुली से 'कौन है'--इस मुद्रा से तिरछे निकलती हुई तथा कपती हुई प्रदश्य है। पुन कान खजुआने मे, शब्द सुनने मे भी यही मुद्रा विहित है। हाथ की दो अँगुलिया को सम्मुख सयुक्त करके वियोग मे विघटित और लडाई मे स्वस्तिका के आकार वाली करना चाहिए। परस्पर निपीडन मे भी इनको ऊपर उठाते हुए एव ऊर्ध्वाग्र चलित प्रदश्य है। पुन आख भी तथा दोनो भौवें को भी हस्तानुगत अभिनेय हैं ॥१०५-१२२½॥

पद्मकोषक-हस्त-मुद्रा--जिसकी अगुलिया अगूठे के सहित विरली और कुचित होती हैं और ऊपर उठी हुई और अग्रभाग सयत यदि वे होती हैं तो ऐसा हस्त पद्म-सज्ञक कहलाता है। और उस हाथ के द्वारा श्रीफल अथवा कपित्थ का ग्रहण-रूपण करना चाहिए। बीजपूरक-प्रभृति प्रधान फलो का तथा अन्य फलो का भी उन उन फलो के समान रूप बनाकर उस हाथ के समान रूप बनाकर उस हाथ के द्वारा ऊर्ध्वगति से रूपण करना चाहिए। मुह फैलाकर स्त्री का कुच (स्तन) निरूपण करना चाहिए और दृष्टि और भौं को इस हाथ के अनुगत बनानी चाहिए ।।११२½-१२५।।

सर्पशिर-हस्त-मुद्रा --जिस हाथ की सब अगुलिया अगूठे के सहित सहत अर्थात् सटी होती हैं और जिसके तलवे निम्न होते हैं, उस हाथ को सर्प-शिर् नाम से पुकारा जाता है। सीचने और पानी देने म उसे उत्तानित करना चाहिए। सर्प की गति म तो फिर उसे अधोमुख विचलित करना चाहिए और इस सर्पशिर-नामक हस्त से आस्फोटन क्रिया कही गया है। फिर भौं चढाकर इस प्रकार से टेढा शिर करके सम्मुख अधोमुख से हाथो का कुम्भ-स्फालन दिखाना चाहिए और भ्रू-सहित दृष्टि को हस्त की अनुयायिनी बनाना चाहिए ॥१२६ १३०½॥

मृगशीर्षक-हस्त-मुद्रा --अधोमुख तीनो अगुलियो की जब समागति होती है तथा कनिष्ठा और अगुष्ठ जब ऊपर होते हैं तब यह मृगशीर्ष के नाम से पुकारा जाता है। 'यहा पर इस समय यह है--आज यहा पर है'--इस प्रकार इसका प्रयोग करना चाहिए। शस्त्र के आलम्बन मे, अक्ष पातन मे, और स्वेदाप-नयन मे टेढी मुद्रा से उस म तत्प्रदेश-स्थित अधोमुख करना चाहिए। पुन उसकी क्रोध-मुद्रा प्रदश्य है। इसकी अनुयायिनी दृष्टि तथा दोनो भौवो को भी वैसा ही करना चाहिए ॥१३०½-१३३॥

काङ्गूल हस्त मुद्रा —त्रेताग्नि-सस्थिता मध्यमा एव तर्जनी के सहित अगुष्ठ प्रदश्य है। कागूल मे अनामिका नामक अगुली टेढी और कनिष्ठा ऊपर की ओर उस को उत्तानित करके करकधू-प्रभृति प्रकतियो को दिखाना चाहिए और तरुण जो फल हो तथा और कोई जो कुछ छोटी बडी वस्तु हो, अगुली नचाकर स्त्रियो के रोष-वचनो का तथा मुक्ता, मरकत आदि रत्नो के प्रदशन का इसी हाथ से प्रदशन विहित है। इसी हस्तानुगत भौंहो का दृष्टि पुरस्सर अभिनय पूववत् अनिवाय है ॥१३४-१३७½॥

अलपद्म हस्त मुद्रा —जिसकी अगुलिया हथेली पर आवर्तिनी होती हैं और पास मे पाश्वगिता विकीर्ण होती हैं उस हाथ को अलपद्म प्रकीर्तित किया गया है। प्रतिशोधन मे यह हाथ सम्मुख टेढा रखना चाहिए। 'तुम किस की हो"—नही है—इस वाक्य के शून्य उत्तर मे बुद्धिमान के द्वारा अपने उपन्यसन तथा स्त्रिया के सन्देश मे यह मुद्रा अभिनेय है। पुन दृष्टि एव दोना भोंह उसी प्रकार इस हस्त मुद्रा की अनुगत प्रदश्य है ॥१३७½-१४०½॥

चतुर-हस्त मुद्रा —जहा पर तीन अगुलिया फैली हुई हा और कनिष्ठा ऊची उठी हो और उन चारो के मध्य मे अगुष्ठ बैठा हो उसको चतुर बताया गया है। विनय म और नम मे यह हाथ अभिनय-शास्त्री के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। नैपुण्य म शिर को उन्नत कर पुन सत्व अर्थात बल मे ऊची भौं कर के पुन नियम मे इस चतुर हस्त को उत्तान बनाना चाहिये, किन्तु कुटिला भ्रू को विनय के प्रति ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए। अधोमुख उस हाथ से *बाल दिखाना चाहिए और इस बाल-प्रदर्शन मे भकुटी स टेढा शिर बनाना* चाहिए। पुन उत्तानित हस्त से बलपूवक आतुर नर को दिखाना चाहिए। तिरछ फैलाकर फिर उत्तानित कर बाहर अविकृतास्य मुद्रा स सत्य म तथा अनुमिति म भी यह प्रदश्य है। इसी प्रकार स युक्त पथ्य म शम मे और यम मे इसी प्रकार से हाथ को प्रयुक्त करना चाहिए। दो से अथवा एक स थोडा मडलावस्थित उससे विचार करता हुआ अभिनय करना चाहिए, और इसी प्रकार लज्जित तथा निलज्जित मुद्रा करना चाहिए और वहा पर भौहो को नीचे करके अविकृत (अविकाय) मुख दिखाना चाहिए। फिर मण्डलावस्थित वक्षस्थल पुरत स्थित अधोमुख से वहा भी अविकृत मुख तथा अभ्युन्नत दोनो भौंहें प्रदश्य हैं और शिर बायें से नत प्रदश्य है। दोना आखो से मृग-कर्ण-प्रदशन करना चाहिए। विचक्षणो के द्वारा तद्देशवर्ति दोनो हाथो से भ्रू-सहित क्षेपण प्रदश्य है। पुन उत्तान-युत-हस्त उससे तदनन्तर पताकार-प्रदशन करना चाहिए। इस चतुर

सतक हस्त मे भी को थोड़ा सा लचा कर लीला, रति, स्मृति बुद्धि, मूर्छा, संगत, प्रणय, शोच माधुर्य, भाव, अक्षम, पुष्टि, सचिव, शील, चातुर्य, मादव सुग, प्रश्न-वार्ता, वेप और युक्ति तथा दाक्षिण्य यौवन मे, विभव और अविभव तथा कुछ सुग्न शाद्वल, मदु, गुण, अगुण घर स्त्री, नाना विध आश्रय वाले वण—ये सभी चीजें इस चतुर-हस्त से यथोचित अभिनय के योग्य हैं। कहीं पर प्रमान कहीं पर मृदुला तथा जिस २ अर्थ की जैसे जैसे प्रतीति हो बुद्धिमानों को उसी उसी प्रकार पूर्वोक्त हस्त से शोच मे अभिनय करना चाहिए। उसी के अनुसार भ्रू और दृष्टि भी अभिनेय हैं। अर्थात इस मुद्रा मे सब करना चाहिए। मण्डलस्थ हस्त से पीत और रक्त दिखाना चाहिए। कुछ नतभ्रू शिर से और परिमण्डलित उससे काला नीला दिखाना चाहिए और स्वाभाविक रूप उस चतुर-हस्त से कपोतादि वर्णों को दिखाना चाहिए ॥ १४०-१५६ ॥

भ्रमर हस्त-मुद्रा —मध्यमा और अगुष्ठ सन्देशाकृति मे और प्रदेशिनी टेढ़ी और ऊपर दोनो अगुलिया जहा पर प्रकीण हो उसको भ्रमर नामक कर कहा गया है। उस हाथ से कुमुद, उत्पल और पद्म का ग्रहण—अभिनय करना चाहिए। कण-देश पर उस हाथ को रख कर बताना चाहिए। और उनके अभिनय मे दृष्टि को और भौं को हस्त का अनुगामी करना चाहिए ॥ १६०-१६२ ॥

हंसवक्त्र हस्त मुद्रा — हंसवक्त्र नामक इस हाथ की दोनो अगुलिया अर्थात तर्जनी तथा मध्यमा और अगूठा भी त्रेताग्नि मे स्थित सा प्रदर्शन विहित है। शेष दोनो अगुलिया फैली हुई अभिनेय है। कुछ स्पन्द करते हुए अगूठे वाले इस हाथ से दोनो भौंहो को उठा कर निस्सार, अल्प और सूक्ष्म तथा मृदुल और लघु दिखाना चाहिए और इसके अभिनय मे दृष्टि और भौं को हस्त का अनुगामी दिखाना चाहिए ॥ १६३-१६५३ ॥

हंसपक्ष-हस्त-मुद्रा —पहली दोनो अगुलिया फैली हुई और कनिष्ठा ऊपर उठी हुई तथा अगूठा जिसमे कुंचित हो उस हाथ को हंसपक्ष बताया गया है। उस हाथ को उत्तानित कर बाहर टेढ़ा कर निवापाञ्जलि दिखाना चाहिए। उसी के द्वारा गण्ड के रूप का गण्ड-वतन और भोजन मे तथा प्रतिग्रह अर्थात् दक्षिणा आदि की स्वीकृति मे इसे उत्तान करना चाहिए और उसी प्रकार ब्राह्मणों के आचमन आदि पूत कार्यों मे इसे करना चाहिए। दोनो के अतरावकाश के नीचे इसे स्वस्तिक-योगी बनना चाहिए। कुछ शिर को नीचे करके पार्श्व मे

ही दोनों हाथो से स्तम्भ-दर्शन अभिनेय है। वाए हाथ को फैलाकर एक से रोमाच करना चाहिए। स्त्रियो अर्थात् प्रियाओ के सवाहन मे और अनुलपन म तथा स्पर्श मे साथ ही साथ विषाद में और विभ्रम म भी स्तनातस्थ-रस-स्वाद-पुरस्सर तद्देशवर्ती बनाना चाहिए। और उसे हनुधारण मे अधस्थल प्रयोग करना चाहिए। इस हाथ की दृष्टि को अनुयायिनी और भौहो का भी अनुगता बनाना चाहिए ॥१६५½-१७२½॥

सन्दंश-हस्त-मुद्रा —जब अराल हस्त की तजनी और अगुष्ठ का सन्दश-सज्ञक इस हस्त मे भी विहित होता है और जब उसका तल-मध्य आभुग्न हो जाता है तब वह हस्त सदश बताया गया है। यह अग्र, मुख तथा पाश्व इन तीनो भेदो मे तीन प्रकार का होता है और उसको पुष्पावचय तथा पुष्प-ग्रथन मे प्रयुक्त करनी चाहिए तथा तृणो तथा पत्रो के ग्रहण मे और साथ साथ केश-सूत्र आदि परिग्रह म प्रयुक्त करना चाहिए। शिल्प के एक-देश के ग्रहण मे तो अग्रदशक को स्थिर करना चाहिए। आकषण म तथा खीचने मे भी और वन्त से पुष्प को उखाडन मे और साथ ही साथ शलाकादि-निरूपण म भी ऐसा ही करना चाहिए। रोष मे तथा धिक्कार के वाक्य मे बाहर के भाग से प्रसपण करते हुए इस हस्त-मुद्रा का यह अभिनय विहित है। इसी प्रकार और अभिनय प्रदर्श्य हैं। गुण-सूत्र के ग्रहण को तथा वाण के लक्ष्य निरूपण ध्यान और योग हृदय-प्रदेश पर इस हस्त को रख कर दिखाना चाहिए और कुछ अभिनय म तो हृदय के सम्मुख सयुत करना चाहिए। निंदा अथवा कोमल और दोषयुक्त वचनो मे विवर्तिताग्र वाम हस्त कुछ शिथिल सा प्रदर्श्य है। प्रवाल की रचना मे, वर्तिका के ग्रहण मे, नेत्र रजन मे और आलेख्य म तथा आलक्तक-पीडन म भी इसी हस्त का प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर इसकी भ्रू और दृष्टि अनुगत करना चाहिए ॥१७२½-१८२½॥

मुकुल हस्त-मुद्रा :—जिस हस्त की हस-मुख के समान हस्त-मुद्रा ऊर्ध्वा होती है और जिसकी अगुलिया समागताग्रसहिता होती हैं, उस हस्त को मुकुल के नाम से पुकारा जाता है। यहा पर मुकुलो तथा कमलो आदि म इसे सघन बनाना चाहिए। सामने फैलाकर उच्चालित यह हस्त विट-चुम्बक होता है ॥१८२½-१८४½॥

ऊर्णनाभ-हस्त-मुद्रा —पद्मकोष-नामक हस्त की अगुलिया जब कुचित होती हैं तब उस हस्त को ऊर्णनाभ समझना चाहिए और चोरी और केशग्रह

में इसे प्रयुक्त किया जाता है। चोरी और केश-गह मे इस हाथ को अधोमख करना चाहिए। शिर को खुजलाने मे मस्तक के प्रदेश मे बार बार चलता हुआ इसे तिर्यक बनाना चाहिए और कुष्ठ की व्याधि के निरूपण म इसे टेढा बनाना चाहिए। सिंह और व्याघ्रादि के अभिनय मे इसे अधोमुख करना चाहिए तथा इसको भ्रुकुटि और मुख से सयुक्त बनाना चाहिए। यहा पर भी दृष्टि और भ्रू का कम पहले के समान ही बनाया जाता है ॥१८४½-१८८½॥

ताम्रचूड हस्त मुद्रा —मध्यमा और अगुष्ठ सन्दश के समान जहा पर हो और प्रदेशिनी वक्रा हो तो दोनो अगुलिया तलस्थ कर्तव्य हैं। मृग, शृगाल आदि के डराने मे तथा बाल-सधारण मे इस हाथ को भर्त्सना मे भृकुटी-युक्त बनाना चाहिए। सिंह एव व्याघ्र आदि के योग मे विच्युत हो कर शब्द करता है। दृष्टि एव भ्रू इस हस्त की सदैव अनुग विहित हैं। दूसरो के द्वारा इसकी दस ो सज्ञा भी दी गयी है ।१८८½-१९१½॥

अभी तक असयुत चौबीस हस्तो का वर्णन किया गया। अब तरह सयुत हस्तो के नाम और लक्षण का वर्णन किया जाता है —अजलि कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, खटक, वर्धमान, उत्सग, निषध, डाल पुष्पपुट मकर गजदन्त, अवहित्थ और दूसरा वर्धमान —ये सयुत सज्ञक तेरह हाथ वर्णित किए गये हैं ॥१९१½-१९५½॥

अञ्जलि-हस्त-मुद्रा —दो पताक हस्तो के सश्लेष से अञ्जलि-नामक हस्त स्मृत किया गया है। यहा पर विद्वान को कुछ विनत शिर करना चाहिए। निकटवर्ती मुख से गुरु को नमस्कार करना चाहिए और वक्षस्थल पर स्थित मित्रो का और स्त्रियो का यथेच्छ विहित है ॥१९५½-१९७½॥

कपोत हस्त-मुद्रा —दोनो हाथो से परस्पर पार्श्व सग्रह से कपोत नाम का हस्त होता है इसके कर्म का वर्णन अब किया जाएगा। शिरोनमन से एव वक्ष स्थल पर हाथ रख कर उसी से गुरु-सम्भाषण करना चाहिए तथा उसी से शीत और भय प्रदर्शन करना चाहिए। विनयाभ्युपगम मे भी यही विहित है। अगुलि से सघट्टमाण मुक्त पाणि स यह नही करना चाहिए ऐसा ही करना चाहिए —आदि अभिनेय हैं ॥१९७½-२००॥

कर्कट-हस्त-मुद्रा —जिस हस्त की अगुलिया अन्योन्याभ्यन्तर निःसृत होती है, उस को कर्कट समझना चाहिए और उसके कर्म का अब वर्णन किया जाता है। शिर को उठाकर तथा भौहो को नचाकर कामातुरो का

जम्भण (जमुहाई लेना) तथा अग मदन इसी से दिखाना चाहिए ॥२०१–२०२॥

स्वस्तिक-हस्त-मुद्रा —मणिबधन मे वियस्त अराल दोनो हस्तो को स्त्रियो के लिये प्रयोजित होते हैं तो उसे स्वस्तिक बताया गया है। चारो तरफ ऊपर प्रदश्य एव विस्तीर्ण रूप मे वनो, मेघो, गगन आदि प्राकतिक दृश्य अभिनेय है ॥२०३½–२०४॥

खटकावर्धमान हस्त मुद्रा —खटक मे खटक यस्त खटकावधमानक-सज्ञक यह हस्त बताया जाना है। शृगार आदि रसो के अथ मे इसे प्रयोग करना चाहिए तथा उसी प्रकार इस का परावृत-प्रभद भी विहित है ॥२०४½-२०५॥

उत्सग-हस्त मुद्रा –दोनो अराल हस्त विपयस्त और ऊचे उठे हुए बधमानक जब हो तो स्पश म एव ग्रहण म इसकी सज्ञा उत्सङ्ग बताई गयी है। उत्सग नाम वाले ये दोनो हाथ होते हैं। अब उनका कम बताया जाता है। उन दोनो का विशेष प्रहरण अथवा हरण मे विनियोग करना चाहिए और इन दोनों हाथो को स्त्रियो का ईर्षा के योग्य बनाना चाहिए। दायें अथवा बायें हाथ को कूर्पर के मध्य म यास करना चाहिए ॥२०६ २ ८।

निषध हस्त मुद्रा —यह लक्षण गलित एव लुप्त है।

दोल-हस्त-मुद्रा जहा दोनो पताक हस्त क अभिनय मे कध प्रशिथिल मुक्त तथा प्रलम्बित दिखाई पड रहे हो एमे करण मे दोल की सज्ञा हुई ॥२०६॥

पुष्पपुट-हस्त-मुद्रा—जो सपशिर नामक हस्त बताया गया है उसका अगुल ससक्त हो तथा जो दूसरा हाथ पाश्व-सश्लिष्ट हस्त होना ता यह हस्त होता है। इसके काम विभिन्न प्रदशन जलपान आदि हैं ॥२१०-२११॥

मकर-हस्त-मुद्रा — जब दोनो पताक-हस्त के अँगूठा उठाकर अधोमुख ऊपर ऊपर वियसित होते हैं तब उस हाथ का मकर अथवा मकरध्वज कहते हैं ॥२१२॥

गजदत-हस्त-मुद्रा —कूपर मे दोनो हाथ जब सपशीषक सचित होत है तब उस हाथ को गजदन्त के नाम से समझना चाहिए ॥२१३॥

अवहित्थ-हस्त-मुद्रा —शुक की चोच के समान दोनो हाथो को बनाकर वक्ष स्थल पर रख करके फिर धीरे धीरे मुखाविद्धाभिनय स उसको अवहित्थ कहा जाता है। इस हाथ से उत्कण्ठा-प्रभृति का अभिनय करना चाहिए ॥२१४-२१५½॥

वधमान-हस्त-मुद्रा —दोनो हाथ हस पक्ष की मुद्रा म जब हो और व

एक दूसरे के पराङ्मुख भी हों तो इस को वधमान के नाम से पुकारा जाता है ॥२१५॥

टि० (१) इस मूलाध्याय में आगे के दो श्लोक (२१६-२१७) प्रक्षिप्त प्रतीत होते है अत अनुवादानपेक्ष्य।

टि० (२) चतुर्विंशति (२४) संयुत हस्त-मुद्राओं एव त्रयोदश (१३) असंयुत हस्त-मुद्राओं के वर्णन के उपरान्त अब एकोनत्रिंशद (२९) नृत्य-हस्त मुद्राओं का वर्णन किया जाता है। इन नृत्य-हस्तों मे इस मूल मे केवल अट्ठाईस नृत्य-हस्त प्राप्त हो रहे हैं उनसे बहुतो के लक्षण भ्रष्ट हैं गलित भी है तथा अव्यवस्थित भी हैं, अत मुनि की दिशा से अर्थात् नाट्य-शास्त्र प्रणेता भरत-मुनि के नाट्य-शास्त्र की दिशा से यत्र-तत्र आवश्यक व्यवस्था का भी प्रयत्न किया गया है।

ये ही संयुत असंयुत दोनो हस्त-मुद्रायें नृत्य हस्त-मुद्राओं मे भी प्रयोग मे लाई जा सकती हैं। चेष्टा, अग—जैसे हस्त से उसी प्रकार सात्विक विकार या भ्रू, ओष्ठ, नासिका, पार्श्व, ऊरु पाद आदि गतियों एव आक्षेप-विक्षेपो मे जिस प्रकार की अनुकृति अभिव्यक्त हो सकती है उसी प्रतीति से इनका अनुकरण इन मुद्राओं मे विहित है ॥२१८-२१९॥

नृत्त हस्त —अब इन नृत्त-हस्तों का वर्णन किया जाता है। पहले इनकी निम्न तालिका प्रस्तुत की जाती है —

(१) चतुरश्र	(१०) उत्तानवञ्चित	(२०) ऊर्ध्व-मडली
(२) उद्वृत्त	(१२) पल्लव-हस्त[1]	(२२) पार्श्व-मडली
(३) स्वस्तिक	(१३) केश-बन्ध	(२२) उरो मडली
(४) विप्रकीर्णक	(१४) लता-कर	(२३) उर पार्श्वार्धमडल
(५) पद्म-कोश	(१५) करि हस्त	(२४) मुष्टिक-स्वस्तिक
(६) अराल-खटकामुख	(१६) पक्ष वचित	(२५) नलिनी पद्मकोषक
(७) आविद्ध-वक्ल	(१७) पक्ष-प्रद्योतक	(२६) हस्तावलपल्लव-कोल्बण
(८) सूची-मुख	(१८) गरुड-पक्षक	(२७) ललित
(९) रेचित	(१९) दड-पक्ष	(२८) वलित
(१०) अर्ध-रेचित।		

टि० —सकेत २९ नृत्त-हस्ता का है परन्तु प्रदर्शित क्रम से केवल २८ ही

चतुरश्र - जब वक्षःस्थल के सामने अष्टांगुल-प्रदेश में स्थित सम्मुख-खटकामुख पुनः समान कूर्पराश--ऐसी मुद्रा प्रतीत हो रही हो तो नृत्य हस्त-विशारदो के द्वारा इस नृत्य-हस्त की सज्ञा चतुरश्र दी गइ है ॥२२८-२२९॥

टि० ।—यहा पर इस मूल मे उद्वृत्त एवं स्वस्तिक इन दोनो नृत्य-हस्त-मुद्राओ का लक्षण गलित है।

विप्रकीर्ण —हस-पक्ष की आख्या वाले दोनो हस्त जब व्यावर्त्ति एव परिवर्तन से स्वस्तिक आकृति मे लाए जाते हैं पुनः मणि-बंधन से च्यावित अर्थात् हटा दिए जाते हैं तो इस मुद्रा को नृत्याभिनय-कोविदो ने विप्रकीर्ण की सज्ञा दी है ॥२२९½—२३०॥

पद्मकोश —वे ही दोनो हस पक्ष-हस्त जसे विप्रकीर्ण उसी प्रकार इसमे व्यावर्तन-क्रिया का आश्रय लेकर अल-पल्लवता की आकृति मे परिवर्तित कर इन दोनो हस्तो को जब ऊर्ध्व-मुख किया जाता है तो इस की सज्ञा पद्मकोश बनती है ॥२३१—२३२½॥

अराल खटकामुख —विवर्तन एव परावर्तन इन दोनो प्रक्रियाओ मे दक्षिण को अराल और वाम को खटकामुख मे स्थित कर जब यह मुद्रा बनती है तो उसे अराल-खटकामुख-नृत्य-हस्त कहते हैं ॥२३२½ २३ ॥

आविद्धवक्त्रक —भुजाए कधे और कूर्परो के साथ जब बाए और दाए ये दोनों हाथ *कुटिलावर्तन क्रिया मे अधोमुख-तल, आविद्ध उद्वृत एव विनत इन* क्रियाओ से जो मुद्रा प्रतीत होती है वहा इस मुद्रा की आविद्ध वक्त्रक-नृत्य-हस्त-मुद्रा सज्ञा होती है। इसकी विशेषता यह भी है कि इस मुद्रा मे गदा-वेष्टन-योग भी विहित है ॥२३४—२३५॥

सूची-मुख —जब सर्प शिर की मुद्रा मे तलस्थ अगुष्ठक वाले दोनो हाथ तिरछे स्थित हो कर और आगे प्रसारित कर जो आकृति प्रतीत होती है उसमे इस नृत्य-हस्त की सज्ञा सूची-मुख से कीर्तित की गई है ॥२३६॥

रेचित ।—मणिबंधन से विच्युति प्रदान कर सूचीमुख की ही आकृति इनको पहले देकर पुनः बाद मे व्यावृत्ति और परिवृत्ति से हसपक्ष का मुद्रा मे लाकर कमल-वर्तिता करनी चाहिए, पुनः इनको द्रुत भ्रम की गति मे लाकर दोनो बगलो मे धीरे धीरे रेचित करना चाहिए, तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा को विशारदो ने रेचित कहा है ॥२३७-२३९½॥

अर्द्धरेचित —पूर्व-व्यावर्तित-क्रिया का आश्रय लेकर बाहु-वर्तना से चतुरश्रक और परिवृत्ति इन दोनो मुद्राओ से जब दक्षिण हाथ चतुरश्र की प्रभा

मे आ जाता है। पुन बायां हाथ रेचित मुद्रा मे आ जाता है। तो विद्वानो ने इसे अद्धरेचित की सज्ञा दी है ॥२३६½-२४१½॥

उत्तान-वञ्चित – दोनो हाथो को चतुरस्र के समान व्यावृत्ति एव परिवृत्ति से वर्तित कर पुन कूपर एव अस मे भजित कर जब इस प्रक्रिया मे ये दोनो हाथ त्रिपताकाकृति प्रतीत होने लगते हैं और कुछ ये दोनो हाथ अश्रस्थिति (त्रिकोनी) मे आश्रित होते हैं तो इनकी सज्ञा उत्तानव ञ्चितनृत्य-हस्त हो जाती है ।२४१½-२४२½॥

पल्लव-हस्त इस मुद्रा मे या तो बाहु-वतन अथवा शीष एव बाहु दोनो के वतन से इस क्रिया मे अभ्यर्णागत दोनो हाथ जब पताका के समान निर्दिष्ट हो जाते हैं तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा की पल्लव-सज्ञा कही गयी है ॥२४२½-२४४½॥

केश-बन्ध –मस्तक पर दोनो हाथ जब उद्वेष्टित-वतना-गति एव सरणि मे शिर के दोनो बगलो पर जब पल्लव-सस्थानाकृति मे दोनो हाथ दिखाई पडते है। तो इस नृत्य-हस्त की सज्ञा केश-बध दी गई है ॥२४४½-२४५½॥

लता हस्त – .. .. ? जब ये दोनो हाथ अभिमुख निविष्ट हो जाते हैं तथा दोनो बगलो पर पल्लव-हस्त की आकृति मे दिखाई पडते है तो इस नृत्य-हस्त की मुद्रा की सज्ञा लता-हस्त दी गई है ॥२४५½-२४६½॥

करि-हस्त –इस करि-हस्त की विशेषता यह है कि व्यवतन से दक्षिण हस्त लता-हस्त के समान तथा वाम हस्त उन्नत विलोलित होकर त्रिपताक-हस्त की आकृति मे परिणत हो जाते हैं तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा की सज्ञा करि-हस्त दी गई है ॥२४६½-२४७½॥

पक्ष-वंचितक —उद्वेष्टित वतना से जब दोनो हाथ त्रिपताक के समान अभिमुख घटित हो जाते हैं पुन करि-हस्त सन्निविष्ट भी प्रतीत होने लगते हैं तो इस नृत्य-हस्त की सज्ञा पक्ष-वञ्चितक दी गई है ॥२४७½–२४८½॥

पक्ष-प्रद्योतक —जब ये दोनो हाथ त्रिपताक हाथो के समान कटिशीष-सन्निविष्टाग्र दिखाई पडते है पुन विवतन एव परावतन से यह पक्ष-प्रद्योतक मुद्रा बन जाती है ॥२४८½–२४६½॥

गरुड पक्षक -अधोमुख-तलाविद्ध मे दोनो हस्त प्रदश्य हैं, पुन इन दोनो हस्त मुद्राओ को त्रिपताकाकार-वैशिष्ट्य विहित है ॥२४९॥

दण्ड-पक्षक —व्यावति एव परावतन मुद्रा से दोनो हाथों को फैलाकर दिखाना चाहिए ॥२५०॥

ऊर्ध्व-मण्डलिन —इस नत्य-मुद्रा मे हाथो का ऊर्ध्वदेश विवर्तन मे दर्शनीय होता है ॥२८१३॥

पार्श्वमण्डलिन —इसकी विशेषता य थानाम पार्श्व-विन्यास विहित है। २५१॥

ऊरोमण्डलिन —दोनो हाथो मे से एक तो उद्वेष्टित तथा दूसरा अपवेष्टित प्रत्य है, पुन वक्ष स्थल-स्थान से उह भ्रमित प्रदस्य है ॥२५२॥

टि० यथा-निर्दिष्ट शष नत्य-हस्त मुद्राग्रा — उरःपार्श्वार्धमण्डलिन मुष्टिक स्वस्तिक, नलिनी पद्मकोषक हस्तावलपल्लव-कोल्बण, ललित तथा वलित—इन छग के लक्षण गलित हैं।

इति शुभम्

अनुवाद खण्ड

समाप्त

शब्दानुक्रमणी

अ

फ

ब

भ

टि० शेषांश पृ० ४ पर देखें।